श्री वल्लभ स्मारक ग्रंथमाला-२

निग्गंठ नायपुत्त

श्रमण भगवान् महावीर

तथा

मांसाहार परिहार

पंडित हीरालाल दूगड़ जैन

आमुख

आगम-प्रभाकर-मुनि श्री पुण्यविजयजी

श्री वल्लभ स्मारक ग्रंथमाला–२

निग्गंठ नायपुत्त

श्रमण भगवान् महावीर

तथा

मांसाहार परिहार

पंडित हीरालाल दूगड जैन

आमुख

आगम-प्रभाकर–मुनि श्री पुण्यविजयजी

प्रकाशक :—

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब

मुख्य कार्यालय—अम्बाला शहर (पंजाब)

वीरनिर्वाण संवत् २४९० ईस्वी सन् १९६४

प्रथमावृत्ति १००० मूल्य—एक रुपया

मुद्रक :

शान्तिलाल जैन

श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,

जवाहर नगर, दिल्ली-६ ।

जिन्होने साधु के कठोर व्रतो का पालन करते हुए भी लोकसेवा के बहुत काम किये और अहिंसा के मूल तत्त्वो को मानव जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये सतत प्रयास किया, उन अज्ञान-तिमिर-तरणि कलिकाल कल्पतरु श्री श्री १००८ स्व० जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर की पवित्र स्मृति में

प्राक्कथन

कभी-कभी विद्वान् माने जाने वाले व्यवित भी कुछ ऐसे विचार व्यक्त कर डालते है जो सत्य तथा औचित्य की दृप्टि से सर्वथा अग्राह्य होते है। ऐसे असत्य तथा अनुपयुक्त विचारो की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति का कारण चाहे कदाग्रह हो अथवा संवद्ध विपय की यथोचित जानकारी का अभाव, परतु ऐसे विचार विपैला प्रभाव डालते है और उनका निराकरण आवश्यक वन जाता है।

श्री धर्मानद कौशाम्वीजी ने अपनी पुस्तक 'भगवान् वुद्ध' मे श्रमण-शिरोमणि, अहिसा के अनन्य उपासक तथा प्रसारक, भगवान् महावीर पर रोगनिवृत्ति के लिए मांसभक्षण का आरोप लगाया है। सर्वप्रमुख जैनागमो मे गिने जाने वाले श्री भगवती सूत्र के एक सूत्र को उन्होने आधार वनाया है।

भगवान् ने अपने एक मुनि शिष्य श्री सिंह को कहा कि "तुम मेढिक नगर मे सेठ गृहपति की भार्या रेवती के घर जाओ और उनसे 'मज्जार कडए कुकुडमंसए' (औपध रूप) ले आओ जो उन्होने अपने लिए वना रखा है।" भगवत् वचन मे प्रयुक्त इन शव्दों का 'विल्ले द्वारा मारे गए मुर्गे का मास' ऐसा असंगत और असभाव्य अर्थ करके कौशावीजी ने अनर्थ किया है।

हर भाषा मे अनेकार्थ शव्द रहते है। दो शव्दो से मिलकर वने हुए शव्दो का अर्थ भी वहुत वार उन दोनो शव्दो के अर्थो से सर्वथा भिन्न होता है। सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे तो विशेषतया अनेकार्थता पाई जाती है। इसलिए विवेकशील विद्वान् किसी भी ग्रंथ में प्रयुक्त शव्दो का अर्थ या उनकी व्याख्या करते हुए इस वात का ध्यान रखेगा कि किस व्यक्ति ने, किसको, किस समय, किस परिस्थिति मे, किस निमित्त से, किस प्रसग पर और किसके सवध मे वह शव्द कहे।

कानून (विधि Statute Law) में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ तथा उनकी व्याख्या करने में प्रसंग, प्रकरण और उद्देश्य आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए यह निर्देश सर्वोच्च न्यायालयों ने बार-बार किया है। जैनागम के इस चर्चित सूत्र की व्याख्या करने में उपर्युक्त सिद्धान्तों का तनिक भी ध्यान कौसाम्बीजी ने रखा होता तो वह ऐसा दुष्ट अथवा विकृत अर्थ न करते। देखिए —

भगवान् महावीर—स्वयं अहिंसा के परमोपासक, जिनके जीवन की अनवरत साध ही सर्वांगीण अहिंसा व सर्वभूतेषु दया थी,

श्री सिंह मुनि—सम्पूर्ण अहिंसादि पंच महाव्रत के धारक निर्ग्रन्थ श्रमण जो किसी भी प्राणी को मन-वचन-काया से कष्ट देना भी पाप समझते हैं। किसी सचित्त वस्तु का प्रयोग भी नहीं करते,

रेवती सेठानी—श्रमणोपासिका श्राविका धर्म का सावधानी से पालने वाली, प्रासुक औषधदान से तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने वाली,

तेजोलेश्या से उत्पन्न रोग—रक्तपित्त, पित्तज्वर, दाह तथा रक्तातिसार जिनके लिए मुर्गे का मांस महा अपथ्य और सर्वथा अनुपयुक्त,

प्रयुक्त शब्द—वनस्पति विशेष के निर्विवाद सूचक और उनसे तैयार की हुई औषध उक्त रोगों के लिए रामबाण।

इत्यादि अनेक दृष्टिकोणों से विचार करने पर स्पष्ट है कि कौसाम्बीजी ने उत्सूत्र, प्ररूपणा की है।

कई विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से कौसाम्बीजी की धारणा को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है। पं० श्री हीरालालजी दूगड ने पूरे साधनों के अभाव में भी इस विषय पर गहराई से अध्ययन तथा मनन किया है और सही अर्थ को हर दृष्टि से स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। कई विद्वानों ने इनके इस उच्च-स्तर विद्वतापूर्ण लेख को सराहा है। इसलिए श्री आत्मानन्द जैन महासभा ने इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया और पण्डित हीरालालजी के महान् परिश्रम का सम्मानपूर्वक पुरस्कार किया। यह पुस्तक गत वर्ष अक्षय तृतीया को श्री हस्तिनापुर

की पुण्यभूमि मे महासभा की ओर से पडितजी को भेट करने का मुझे श्रेय प्राप्त हुआ था और उनके इस श्लाघ्य प्रयास की सराहना उस अवसर पर भी मैने की थी।

उनके लेख को पुस्तक रूप मे विद्वानो के निष्पक्ष भाव से अवलोकन के लिए भेट करने और इस चर्चित विषय की बहुमुखी व्याख्या और विशदी-करण के इस अमूल्य प्रयास को उनके समक्ष रखने मे महासभा हर्ष अनुभव करती है। हमे आशा है कि इसका अध्ययन करके सभी विवेकशील विद्वानों को सतुष्टि प्राप्त होगी।

एम-१२८, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली-१
दिनाक १०-५-६४

विनीत
ज्ञानदास जैन, ऐडवोकेट

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक में जैन श्रमण और श्रावक वर्ग के आचार का—विशेष तथा अहिंसक आचार का सुंदर वर्णन किया गया है, और उस आचार के साथ मांस, मदिरा आदि के सेवन का कोई मेल नहीं है, वे सर्वथा वर्ज्य हैं—ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इस अहिंसक आचार के प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर की जीवनचर्या का संक्षेप में निरूपण भी कर दिया है, वह इसलिए कि—उन्होंने स्वयं अहिंसा की प्रतिष्ठा अपने जीवन में किस प्रकार की थी? यह जानकर स्वयं साधु और गृहस्थ भी अपने अहिंसक आचार में अग्रसर हों और अहिंसा के पालन में कष्टसहन की प्रेरणा भी भगवान् के जीवन से ले सकें। एक पूरा प्रकरण भगवान् महावीर ने आगमों में मांस और अंडे खाने का किस प्रकार निषेध किया है और खानेवालों की कैसी दुर्गति होती है—उसके वर्णन में है। इसमें आगमों के अनेक पाठों का हिंदी अनुवाद देकर यह सिद्ध किया है कि स्वयं भगवान् महावीर ने मांस आदि के सेवन का किस प्रकार निषेध किया है।

अब मुख्य प्रश्न सामने है कि—यदि वस्तुस्थिति यह है तो आगमों में कुछ अपवाद के रूप में मांसाशन सम्बन्धी पाठ आते हैं। उनकी भगवान् महावीर के उक्त अहिंसा के उपदेश से किस प्रकार संगति है? आज से हजार वर्ष से भी पहले यही प्रश्न टीकाकारों के समक्ष था और आज के आधुनिक युग में भी कई विद्वानों ने इस ओर जैन विद्वानों का ध्यान दिलाया है। यह प्रश्न बड़ी परेशानी तब बनता है जबकि आज हम यह देखते हैं कि—जैन समाज में मांसाशन सर्वथा त्याज्य है और हम यह पाते हैं कि—वहीं आगमवाक्य जैसे उन पाठों का आगे करके मांसाशन का निर्णय पुष्ट करते रहे हैं। यह समस्या जैसे आज है वैसे पूर्वकाल में भी थी।

और अहिसा के परम उपासक के जीवन मे मासाशन का मेल वैठ ही नही सकता है यह हमारी धारणा जैसे आज है वैसे प्राचीनकाल मे भी थी। यह भी एक प्रश्न वारवार सामने आता है कि जिस प्रकार भगवान् वुद्ध ने मास खाया यदि उसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी खाया तथा जिस प्रकार आज वुद्ध के अनुयायी मासाशन करते है उस प्रकार कभी-कभी जैन श्रमणो ने और गृहस्थो ने भी किया, तो अहिसा के आचार मे भगवान् महावीर और उनके अनुयायी की इतरजनो से क्या विशेपता रही ? ये और ऐसे अनेक प्रश्न अहिसा में सम्पूर्ण निष्ठा रखने वालो के सामने आते है। अतएव उनका कालानुसारी समाधान जरूरी है। पूर्वाचार्यो ने तो उन-उन पाठो मे उन शब्दो का वनस्पतिपरक अर्थ भी होता है ऐसा कहकर छुट्टी ले ली, किन्तु इससे पूरा समाधान किसी के मन मे होता नही और प्रश्न वना ही रहता है। आधुनिक काल मे जव त्याग की अपेक्षा भोग की ओर ही सहज झुकाव होता है, तव ऐसे पाठ मानव-मन को अहिसा निष्ठा मे विचलित कर दे और वह त्याग की अपेक्षा भोग का मार्ग ले; यह होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से उन पाठो का पुर्नविचार होना जरूरी है, ऐसा समझकर लेखक ने जो यह प्रयत्न किया है वह सराहनीय और विचारणीय है।

लेखक ने विविध प्रमाण देकर भरसक प्रयत्न किया है कि—उन सभी पाठो मे मास का कोई सम्वन्ध ही नही है। अनेक कोष और शास्त्रों से यह सिद्ध किया है कि उन शब्दो का वनस्पतिपरक अर्थ किस प्रकार होता है। इसे पढकर अस्थिर चित्तवालो की अहिसा निष्ठा दृढ होगी—इसमे संदेह नही है, और आक्षेप करनेवालो के लिए भी नयी सामग्री उपस्थित की गई है, जो उनके विचार को वदल भी सकती है। इस दृष्टि से लेखक ने महत् पुण्य की कमाई की है और एतदर्थ हम सभी अहिसा निष्ठा रखनेवालो के वे धन्यवाद के पात्र है।

—मुनि पुण्यविजय

की सभाओ ने भी इस पुस्तक के विरोव मे प्रस्ताव पास कर योग्य अवि-कारियो को भेजे ।

इस आन्दोलन का परिणाम मात्र इतना ही हुआ कि "उक्त पुस्तक दोवारा न छपवाने का तथा इन प्रकाशित सस्करणो मे मास सम्बन्धी प्रकरण के साथ जैन विद्वानो के मान्य अर्थ को सूचित करनेवाला नोट लगवा देने का अकादमी ने स्वीकार किया परन्तु खेद का विषय यह है कि इस पुस्तक का ग्यारह भाषाओ मे सर्वव्यापक प्रचार बरावर आज भी चालू है ।

भारत एक धर्म-प्रवान देश है, मात्र इतना ही नही, अपितु सत्य और अहिसा की जन्म-भूमि है । इसी धर्म वसुन्धरा पर भारत की सर्वोच्च विभूति महान् अहिसक, करुणा के प्रत्यक्ष अवतार, दीर्घ तपस्वी, महाश्रमण निर्ग्रथ तीर्थकर (निग्गंठ नायपुत्त) भगवान् महावीर स्वामी (जैनों के चौवीसवे तीर्थकर) का जन्म हुआ । इसी पवित्र भारत भूमि मे उन्होने जगत् को सत्य, अहिसा, अपरिग्रह तथा स्याद्वाद आदि सत्सिद्धान्तों को प्रदान किया । समस्त विश्व इस वात को स्वीकार करता है कि "श्रमण भगवान् वर्द्धमान महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रथ जैन श्रमण मनसा-वाचा-कर्मणा अहिसा के प्रतिपालक थे और उनके अनुयायी श्रमण एव श्रमणोपासक आज तक इसके प्रतिपालक है ।"

ऐसा होते हुए भी ईस्वी सन् १८८४ मे यानि आज से ८० वर्ष पहले जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्मन जैकोवी ने जैनागम "आचाराग सूत्र" के अपने अनुवाद मे सूत्रगत मांस आदि शब्दोवाले उल्लेखो का जो अर्थ किया था उस पर विद्वानो ने पर्याप्त ऊहापोह किया था । अनेक विद्वानों ने डाक्टर जैकोवी के मन्तव्यों के खडन रूप पुस्तिकाएं भी लिखी थी जिसके परिणामस्वरूप डाक्टर जैकोवी को अपना मत परिवर्तन करना पडा । उन्होने अपने १४-२-१९२८ ईसवी के पत्र मे अपनी भूल स्वीकार की । उस पत्र का उल्लेख "हिस्ट्री आव कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज" पृष्ठ ११७-११८ मे हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने इस प्रकार किया है :—

There he has said that "बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण" has been used in the metaphorical sence as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a vartika of Panini (III, 3, 9) and from Vachaspati's com on Nyayasutra (IV, 1,54) he has concluded "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected."

डॉक्टर हर्मन जैकोबी के इस स्पष्टीकरण के बाद आल्सो के विद्वान् डाक्टर स्टेन कोनो ने अपने मत को एक पत्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया है जिसका हिंदी अर्थ नीचे दिया जाता है —

"जैनों के मांस खाने की बहु विवादग्रस्त बात का स्पष्टीकरण करके प्रोफेसर जेकोबी ने विद्वानों का बड़ा हित किया है। प्रकट रूप से यह बात मुझे कभी स्वीकार्य नहीं लगी कि जिस धर्म में अहिंसा और साधुत्व का इतना महत्त्वपूर्ण अंग हो, उसमें मांस खाना किसी काल में भी धर्मगत माना जाता रहा होगा। प्रोफेसर जैकोबी की छोटी सी टिप्पणी से सभी बात स्पष्ट हो जाती है। उसकी चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि मैं उनके स्पष्टीकरण की ओर जितना संभव हो उतने अधिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पर निश्चय ही अभी भी ऐसे लोग होंगे जो (जैकोबी के) पुराने सिद्धान्त पर दृढ़ रहेंगे। मिथ्यादृष्टि से मुक्त होना बड़ा कठिन है पर अन्त में सदा सत्य की विजय होती है।"

(आचार्य विजयेन्द्रसूरि कृत तीर्थंकर महावीर भाग २ पृ० १८१)

जैकोबी के बाद इस प्रश्न का श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने तथा अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने श्रमण भगवान महावीर का तथा निर्ग्रन्थ (जैन) श्रमणों का मांसाहारी सिद्ध करने का दुःसाहस किया है। श्री गोपाल-दास जीवाभाई पटेल आज जीवित हैं पर अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी इस संसार से विदा ले चुके हैं। इन दोनों ने जैनागमों के कुछ सूत्र उन उल्लेखों

को संसार के समक्ष अयथार्थ रूप से प्रकट कर जो चर्चा उपस्थित की है उसका आज तक अन्त नही आया।

यद्यपि अध्यापक कौशाम्बी पाली भाषा तथा बौद्ध साहित्य के प्रखर विद्वान् माने जाते थे परन्तु अर्द्ध मागधी भाषा के तथा जैन आचार-विचार के पूर्णज्ञाता न होने के कारण एव गोपालदास भाई पटेल भी इन विषयो मे अनभिज्ञ होने के कारण (दोनो ने) जैनागमो के कथित सूत्रपाठो का गलत अर्थ लगाकर निग्गठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रंथ श्रमण सघ पर प्राण्यग मत्स्य मासाहार का निर्मूल आक्षेप लगाया है। वास्तव मे बात यह है कि जो भी कोई अहिंसा धर्म के अनन्य सस्थापक, प्रचारक, विश्ववत्सल, जगद्-बन्धु, दीर्घ तपस्वी, महाश्रमण भगवान् महावीर पर मासाहार का दोषारोपण करता है, वह भगवान् महावीर को यथायोग्य नही समझ सका, उनके वास्तविक पवित्र जीवन को नही समझ पाया। यही कारण है कि ऐसे व्यक्ति ऐसा अप्रशस्त दुस्साहस कर ज्ञात-अज्ञात भाव से मांसाहार प्रचार का निमित्त बन जाते है। ऐसे निर्मूल आक्षेप का प्रतिवाद करना सत्य तथा अहिंसा के प्रेमियों के लिये अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य मे रखते हुए कई विद्वानों ने इस प्रतिवाद रूप कुछ लेख तथा पुस्तिकाये लिखकर प्रकाशित की।

फिर भी, जिज्ञासुओं के लिये इस विषय मे विशेष रूप से खोजपूर्ण लेख की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अत भारत के अनेक स्थानो से मित्रो तथा विद्यार्थी बन्धुओ ने अपने पत्रो द्वारा तथा साक्षात् रूप मे मिलकर मुझे इस "भगवान् बुद्ध" के मासाहार प्रकरण के प्रतिवाद रूप शोध-खोजपूर्ण, युक्ति पुरस्सर, जैनशास्त्र-सम्मत तथा जैन आचार-विचार के अनुकूल निबध लिखने की आग्रहभरी पुन.-पुन. प्रेरणाये की। इन निरन्तर की प्रेरणाओ ने मेरे मन में सुषुप्त इच्छाओ को बल प्रदान किया।

विशेष रूप से श्री रमेशचन्द्रजी दूगड़ जैन (पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए) कानपुर निवासी ने इस विषय पर कुछ नोट लिख भेजे और भावना प्रकट की कि इस विषय पर एक सुन्दर निबन्ध तैयार किया जावे

इससे मुझे विशेष रूप से सक्रिय प्रेरणा तथा उत्साह मिला और दृढ़ संकल्प बनने में सहायता मिली । मैंने उनमें से कुछ उपयोगी नोट्स इस निबन्ध में स्वीकार किये हैं । अतः मैं उन सब प्रेरणादाताओं का आभारी हूँ ।

मैंने इस निबन्ध को ईसवी सन् १९५७ में अम्बाला शहर पंजाब में लिखना प्रारंभ किया और पूरे दो वर्ष के सतत परिश्रम के बाद ईसवी सन् १९५९ को लिखकर तैयार हो गया । मैं सन् ईसवी १९६२ को दिल्ली आ गया ।

इस निबन्ध को तैयार करने में कई अड़चनें, प्रतिबन्ध और असुविधाओं तथा साधन-सामग्री के अभाव के बीच में से गुजरना पड़ा । येन-केन प्रकारेण साधन सामग्री जुटाकर और सब अड़चनों का सामना करते हुए यह निबन्ध ईसवी सन् १९५९ में तैयार होकर पूरे पांच वर्ष बाद आज सन् ईस्वी १९६४ में श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब द्वारा प्रकाशित होकर आपके कर कमलों तक पहुंच पाया है । आशा तो थी यह जल्दी प्रकाशित होगा लेकिन "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" लोकोक्ति यहां भी प्रबल बनी ।

अब मेरी यह हार्दिक भावना है कि इस निबन्ध का अनेक भाषाओं में अनुवाद होकर विश्वभर में सर्वत्र प्रचार हो, जिससे जैन धर्म, जैन तीर्थंकर, जैन आगमों, जैन मुनियों तथा जैन गृहस्थों पर लगाये गये निराधार मिथ्या आक्षेपों का निराकरण होकर इसका सत्य और वास्तविक स्वरूप का विश्व का मानव-समाज परिचित हो ।

अहिंसा प्रेमी महानुभावों को इसके सर्वत्र प्रचार के लिए इस निबन्ध को प्रकाशन तथा को प्रोत्साहन देते रहना चाहिये ।

इस निबन्ध में यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर ने उत्सर्ग तथा अपवाद किसी भी सूत्र में प्राणिज मांसाहार ग्रहण नहीं किया और न ही अपने सिद्धान्त (आगम विचार) में अनुमति दी [illegible] पदार्थ ग्रहण [illegible] सम्बन्धी [illegible] मार्ग वह सिद्धान्त ही का प्रधान मार्ग है । [illegible] मार्ग का ही आचरण करता है । [illegible] वस्तु नहीं है ।

अत वे अपने जीवन मे किसी भी हालत मे अपने लिये अपवाद मार्ग का आश्रय नही लेते। इसका आशय यह है कि वे अपने जीवन मे हिंसा आदि जिसमे हो ऐसा कोई कार्य नही करते। अत: प्राण्यग मासादि को ग्रहण करना उनके लिये असभव ही है इसलिये जैनो के पाँचवे आगम "भगवती सूत्र" के विवादास्पद सूत्रपाठ के शब्दो का प्राण्यग मासपरक अर्थ करना नितात अनुचित और गलत है तथा श्रमण भगवान् महावीर को जो रोग था जिसके लिये उन्होने जिस औषध का सेवन किया था यदि वह प्राण्यंग मांस होता तो वह प्राणघातक सिद्ध होता। इसलिए उन्होने वनस्पतियो से तैयार हुई औषधि का सेवन कर आरोग्य लाभ किया। वह औषध :—

"लवंग से संस्कारित बिजोरा (जम्बीर) फल का पाक" औषध रूप से ग्रहण किया था। क्योंकि इस औषध मे रक्त-पित्त आदि रोगों को शमन करने के पूर्ण गुण विद्यमान हैं।

श्वेतांबर जैनो द्वारा मान्य इस सूत्रपाठ का अर्थ वनस्पतिपरक औषध रूप से सुज्ञ दिगम्बर जैन विद्वानो ने भी स्वीकार किया है और इस औषध-दान की भूरि-भूरि प्रशसा की है। मात्र इतना ही नही, अपितु यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् को इस औषध दान देने के प्रभाव से रेवती श्राविका ने तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया, इसलिए औषध दान भी देना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि सुज्ञ दिगम्बर जैन विद्वानो को भी इस औषध के वनस्पतिपरक अर्थ मे कोई मतभेद नही है। देखे इसी निबन्ध का पृष्ठ ७८।

अधिक क्या कहे गलत तथा भ्रान्तिपूर्ण ऐसा अनुचित प्रचार कर अति प्राचीनकाल से चले आये जैन धर्म के पवित्र और सत्य सिद्धान्तो को तोड-मोडकर रखने से ऐसे पवित्र सत्सिद्धान्तों से अज्ञान तथा द्वेषियो को मिथ्या प्रचार करने का मौका मिलता है। अत कोई विद्वान् यदि किसी गलतफहमी का शिकार हो भी गया है तो उसे इस बात को सत्य रूप मे जानकर अपनी भूल के लिये प्रतिवाद तथा पश्चात्ताप करना ही उसकी सच्ची विद्वत्ता की कसौटी है।

समाज मे सतोष नही हो सकता। तथा भाई गोपालदास जावाभाई अथवा जो कोई अन्य महानुभाव भी इसका अनुकरण कर रहे हो उनको भी वास्तविक अर्थ समझकर अपनी भूल को स्वीकार कर अपनी सरलता और सत्यप्रियता का परिचय देते हुए वास्तविक विद्वत्ता का परिचय देना चाहिये।

भारत सरकार से भी हमारी प्रार्थना है कि जिस प्रकार Religious Leaders (धार्मिक नेता) नामक पुस्तक प्रकाशित होने पर अल्प-सख्यको की भावनाओ का आदर करते हुए उसे जब्त कर तथा "सरिता" मासिक पत्रिका के जुलाई के अक को जब्त करके सत्य परायणता का परिचय दिया है वैसे ही अध्यापक धर्मानन्द कोशाम्बी कृत "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक के लिये भी कदम उठाये जिससे अहिंसा-प्रेमी जगत् के सामने शुद्ध न्याय का परिचय मिले।

इस निबन्ध को लिखने मे जिन ग्रंथो की सहायता ली गयी है उनकी सूची आगे दी है। उन सब ग्रथकर्त्ताओ का साभार धन्यवाद।

इस निबन्ध सम्बन्धी सब प्रकार की सम्मतिया एवं सूचनाये नीचे लिखे पते से भेजकर अनुग्रहीत करे।

२/८२ रूपनगर,
दिल्ली-६

हीरालाल दूगड
व्यवस्थापक, जैन प्राच्यग्रंथ भडार

कृतज्ञता प्रकाश

अपने परमोपकारी गुरुदेव जैनाचार्य स्व० श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वरजी के देवलोक गमन के उपरान्त श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब अथवा समस्त पंजाब जैन श्री संघ ने एक स्वर में सङ्कल्प किया था कि गुरुदेव के मिशन की पूर्ति के लिए श्रीवल्लभ स्मारक की स्थापना की जाए। स्मारक में अनेक प्रवृत्तियों का आयोजन है—गुरुवर श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर व श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर की कलात्मक प्रतिमाएँ, हस्तलिखित शास्त्रों का संग्रह व रक्षण, पुस्तकालय, ग्रन्थ प्रकाशन, शोध-कार्य, कलाकक्ष, अतिथिगृह आदि।

स्मारक की स्थापना देहली में होगी। इस समय भण्डारों के ग्रंथों का सूचीकरण हो रहा है। पं० हीरालालजी दूगड यह उपयोगी काम कर रहे हैं। साहित्य प्रकाशन की ओर भी पग उठाया गया है। 'आदर्श जीवन' का प्रकाशन हो चुका है। सस्ता साहित्य मंडल के सहयोग से 'मानव और धर्म' (लेखक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम ए, पी एच डी) भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण विवादास्पद विषय पर लिखी गई है। विद्वान् लेखक व्याख्यान दिवाकर, विद्याभूषण पं० हीरालाल दूगड न्यायतीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक ने कठोर परिश्रम से इसे तय्यार किया है। हम आशा है कि विद्वान् इसका समुचित अध्ययन कर प्रचलित भ्रान्ति दूर कर हमें अपनी सम्मति भेजेंगे। हम लेखक महोदय, आमुख लेखक मुनिराज श्री पुण्यविजयजी तथा श्री शान्तिदासजी एडवोकेट का हार्दिक आभार मानते हैं, जिनके प्रयत्नों व प्रेरणाओं से यह पुस्तक साहित्य-जगत् के समक्ष उपस्थित हो रही है। आर्थिक सहायता के भी हम कृतज्ञ हैं।

जेठ सुदि अष्टमी
वि० २०२१

श्री आत्मानन्द जैन
महासभा, पंजाब

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

जैन आचार-विचार तथा निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर

द्वितीय खंड

निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर पर मासाहार के आक्षेप का निराकरण

तृतीय खंड

साधन ग्रन्थों की नामावली

१ अथर्ववेद संहिता
२ अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
३ अनेकार्थ तिलक (महीपकृत)
४ अनेकार्थ संग्रह
५ अमर कोश
६ अष्टांगसार संग्रह
७ आयभिषक वैद्यक (शंकर दाजीपदे कृत)
८ उपनिषद् वाक्य कोश
९ ऋग्वेद संहिता
१० क्षेम कुतूहल
११ गृह्यसूत्र
१२ चरक संहिता

जैन साहित्य

१३ अभिधान चिंतामणि कोश (हेमचन्द्र)
१४ आगम-आचारांग
१५ आगम-सूत्रकृतांग
१६ आगम स्थानांग
१७ आगम स्थानांग सूत्र टीका
१८ आगम भगवती सूत्र
१९ आगम भगवती सूत्र टीका
२० आगम ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र
२१ आगम उपासक दशांग सूत्र

२२. आगम अन्तकृतदशांग सूत्र
२३. आगम प्रश्न व्याकरण सूत्र
२४. आगम विपाक सूत्र
२५. आगम प्रज्ञापना सूत्र
२६. आगम कल्प सूत्र
२७. आगम दशवैकालिक सूत्र
२८. आगम उत्तराध्ययन सूत्र
२९. आगम अनुयोगद्वार सूत्र
३०. जैन चरित माला (दिगम्बर)
३१. जैन सत्य प्रकाश (मासिक)
३२. तत्त्वार्थ सूत्र
३३. तिरुकुरल-प्रस्तावना (दिगम्बर)
३४. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र (हेमचन्द्र)
३५. धर्म-बिन्दु (हरिभद्र)
३६. धर्म-रत्न करडक (वर्द्धमान सूरि)
३७. निघंटु सग्रह (हेमचन्द्र)
३८. महावीर चरित्र प्राकृत (नेमिचन्द्र सूरि)
३९. महावीर चरित्र प्राकृत (गुणचन्द्र सूरि)
४०. योगशास्त्र (हेमचन्द्र)
४१. श्राद्ध गुण विवरण
४२. षड० प्राकृ० (हेमचन्द्र)
४३. संवोध प्रकरण
४४. सवोध सप्ततिका
४५. जैन पत्र-पत्रिकाए

निघण्टु कोश

४६. नानार्थ रत्नमाला
४७. निघण्टु (कयदेव)

७२. हिन्दी विश्वकोश
७३. ऐतरेय ब्राह्मण
७४. पत्र-पत्रिकाए

ENGLISH BOOKS

75. Sanskrit English Dictionary (Apte)
76. English Dictionary (J. Ogilvie)
77. Sanskrit English Dictionary (Monier Monier-Williams)
78. A. S. B 1868 N/85
79. Mr. Gate report
80. Hinduism (Prof. D. C. Sharma)

उद्धरण

१. डा० राधा विनोद पाल
२. मि. सरसली
३. महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी
४. मि. एव कूप लेड
५. मि. वेगलर
६. कर्नल डैलटन
७. लोकमान्य वालगगाधर तिलक
८. अल्लाडी कृष्णा स्वामी अय्यर
९. डा. हर्मन जेकोवी
१०. डा स्टेन कोनो

प्रथम खण्ड

जैन आचार-विचार तथा निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर

जैन अहिंसा का प्रभाव

जैन अहिंसा के बारे मे कौन नही जानता ? जैन धर्म के प्रत्येक आचार-विचार की कसौटी अहिंसा ही है। जैन धर्म की इसी विशेषता के कारण विश्व का अन्य कोई भी धर्म इस की समानता नही कर सकता। आज भी जैनो के अहिंसा, सयम, तप का पालन तथा मदिरा-मासादि का त्याग सारे ससार मे प्रसिद्ध हैं। इसी लिये यह धर्म "दया-धर्म" के नाम से आज भी जगद्विख्यात है। इसकी अलौकिक अहिंसा को देखकर आज के विचक्षण विद्वान् मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। डा० राधा विनोद पाल Ex-judge, International Tribunal for trying the Japanese War Criminals, ने अपने अभिप्राय मे कहा है कि—

If any body has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifists' Conference, it is the Jain Community The principle of Ahimsa, which alone can secure World Peace, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanath and Lord Mahavira ?

—(Dr Radha Vinod Paul)

अर्थात्—विश्वशान्ति सस्थापक सभा के प्रतिनिधियो का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनो को ही है, क्योंकि अहिंसा ही विश्वशान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और ऐसी अनोखी अहिंसा की भेट जगत् को जैन धर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरो ने [illegible] है। इस लिये

विश्वशांति की आवाज़ प्रभु श्री पार्श्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ?

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी लिखते है कि "महावीर स्वामी का नाम किसी भी सिद्धान्त के लिये यदि पूजा जाता है तो वह अहिंसा ही है। प्रत्येक धर्म की महत्ता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा का तत्त्व कितने प्रमाण मे है। और इस तत्त्व को यदि किसी ने अधिक-से-अधिक विकसित किया है तो वह भगवान् महावीर ही थे।"

भगवान् महावीर हो अथवा कोई भी जैन तीर्थंकर हो, न तो वे स्वय ही मदिरा -मांसादि का प्रयोग करते हैं और न ही उनके अनुयायी यहाँ तक कि जैन धर्म पर विश्वास रखने वाले गृहस्थ भी, जो किसी तरह का व्रत-नियम या प्रतिज्ञा को ग्रहण नही करते अर्थात् श्रावक के व्रतों को भी ग्रहण नही करते, मांस-मदिरादि अभक्ष्य पदार्थों से हमेशा दूर रहते आ रहे है। भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थकरों के मासाहार निरोध का सविशेष परिचायक सबूत (प्रमाण) इससे अधिक क्या हो सकता है।[1]

निर्ग्रथ श्रमण-जैन साधु तो छः काया के जीवों की हिंसा से बचते है। वे त्रसकाय के जीवों का आरंभ (हिंसा) नही करते, सचित्त फल, फूल, सब्जी आदि का भक्षण नहीं करते। अग्निकाय का आरम्भ नहीं करते। सचित्त जल का उपयोग नही करते। बैठना या खड़े होना हो तो रजोहरण (ऊनादि नरम वस्तु का एक गुच्छा, जिससे स्थान साफ करने पर जीवादि की हिंसा का बचाव होता है) से स्थानादि का प्रमार्जन (साफ़-सूफ) करके बैठते, उठते, चलते, सोते है, ताकि किसी सूक्ष्म जीव की भी हिंसा न हो जावे। पृथ्वी को न स्वयं खोदते हैं न दूसरों से खुदवाते हैं। वायुकाय (वायु के जीवों) की हिंसा से बचने के लिए न खा चलाते हैं, न

---

१. भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रथ श्रमण एवं श्रमणोपासकों के आचार सम्बन्धी विशेप स्पष्टीकरण अगले स्तम्भो मे करेगे।

दूसरो से चलवाते हैं। रात्रि-भोजन भी नही करते, क्योंकि इससे प्राय त्रस जीवो की हिंसा होती है तथा भोजन के साथ त्रस जीवो के पेट मे चले जाने से मासभक्षण का दोष भी सभव है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त जैन तीर्थंकरो—भगवान् महावीर आदि—ने अपने अनुयायी जैन मुनियो के लिये स्थूल से लेकर सूक्ष्म हिंसा से बचने के लिये तथा अहिंसापालन के प्रति कितना जागरूक रहने का आदेश दिया है। जिसके फलस्वरूप आज तक जैन साधु-साध्वी सघ स्थूल से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अहिंसा का पालन करने मे सदा जागरूक चला आ रहा है। यह बात आज भी ससार प्रत्यक्ष देख रहा है।

प्राणी मात्र के रक्षक सर्वज्ञ भगवान् महावीर जीव का स्वरूप जानते थे। उन्होंने बतलाया कि मानव जब तक इतनी सूक्ष्म अहिंसा का पालन नही करता तब तक वह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति मे समर्थ नही हो सकता। शाश्वत सुख प्राप्त करने का अहिंसा के पूर्ण पालन को छोडकर अन्य साधन हो ही नही सकता। इसी वजह से वीतराग-सर्वज्ञ भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट आगमो का प्रधान विषय अहिंसा ही है। जो धर्मनिर्यामक तीर्थंकर यहाँ तक सूक्ष्म रूप से जीवो की हिंसा से स्वय बचते हैं और दूसरो के लिये बचने का विधान करते हैं उन पर मास-भक्षण का आरोप लगाना कहाँ तक उचित है? इसके लिये सुज्ञ पाठक स्वय विचार कर सकते हैं।

अहिंसा के विषय मे करुणासागर वीतराग सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने यह स्वय फरमाया है —

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा णातिवाएज्ज कचण"

(आचाराग श्रु० १ अ० २ उ० ३)

अर्थात्—सब प्राणियो को आयुष्य प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सब को प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवन सभी को प्रिय हैं, सभी जीने की इच्छा रखते हैं, इस लिये किसी को मारना या कष्ट देना नहीं चाहिये।

अहिंसा धर्म की इतनी महिमा संसार के अन्य किसी धर्म में नहीं पायी जाती। कितना सुन्दर विचार है—

"स्थूल से लेकर सूक्ष्म सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को कष्ट मत पहुँचाओ, अपने में सबको देखो।"

इससे यह स्पष्ट है कि महाश्रमण भगवान् महावीर की भावना प्राणी-मात्र की रक्षा के लिये कितनी उत्कट थी। यह शाश्वत सिद्धांत जैनो में अब तक अटूट बना रहा है। जैन-मुनि—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि त्रस जीवो तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर जीवो की हिसा मन-वचन-काया से न तो स्वयं करते है, न दूसरो से करवाते है और न करनेवाले का अनुमोदन (प्रशंसा) ही करते है। जब कोई गृहस्थ जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण करता है तब उसे सर्व प्रथम "प्राणातिपात-विरमण" नामक महाव्रत को अंगीकार करना पड़ता है, जिस का पालन वह अपने जीवन पर्यंत पूरी दृढ़ता के साथ करता है। सारांश यह है कि निर्ग्रंथ श्रमण छोटे-से-छोटे जन्तु से लेकर मनुष्य पर्यन्त किसी भी प्राणी की हिसा न तो स्वयं करता है और न दूसरो को ऐसा करने का उपदेश देता है तथा न ही ऐसा करने वाले को अच्छा समझता है। साधु की अहिसा का स्वरूप आगे चलकर हम साधु के आचार मे लिखेंगे।

करुणावत्सल, महाश्रमण सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी ने इस उपर्युक्त प्रकार की अहिंसा का विश्वके जनसमाज को मात्र उपदेश ही नहीं दिया था किन्तु अक्षरश: उन्होने उसे अपने जीवन में भी उतारा था। निग्गण्ठ नायपुत्त[1] (भगवान् महावीर स्वामी) ने गृहस्थावस्था को त्यागकर मुनि अवस्था धारण करने के बाद तो इस सिद्धान्त को पूर्णरूपेण अपने जीवन में आत्मसात् किया ही था, किन्तु जब आप गृहस्थावस्था में

---

१. बौद्ध ग्रंथों में श्रमण भगवान् महावीर का "निग्गण्ठ नाथपुत्त" के नाम से उल्लेख हुआ है किन्तु जैनागमो मे "निग्गण्ठ नायपुत्त" नाम आता है। हम ने इस निबन्ध मे जैन आगमों के अनुसार सर्वत्र "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्त" लिखा है।

थे तभी से आपने सचित्त पदार्थों का सेवन करना छोड दिया था। यह बात जैनागमो के अभ्यासी से छिपी नही है।

जैन धर्मनिष्ठ गृहस्थ, जिन्हे श्रावक अथवा श्रमणोपासक कहते है, वे भी मास खाने से स 'था परहेज करते है। मात्र इतना ही नही परन्तु रात्रिभोजन का सेवन भी सी लिये नही करते कि इस भोजन के साथ त्रस जीवो का पेट मे चले जाना सभव है। इस लिये मासाहार का दोप भी लग सकता है। जब कोई भी व्यक्ति जैन धम स्वीकार करता है तब उसे श्रावक के बारह व्रतो मे से सवप्रथम "स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत" ग्रहण करना पडता है, जिसका प्रयोजन यही है कि त्रस (हलन-चलन की क्षमता वाले) जीवो की हिंसा का त्याग और स्थावर (स्थिर) जीवो की हिंसा की यतना। मास त्रस जीवो को मारने से बनता है, जब श्रावक के लिये त्रस जीवो की हिंसा का त्याग है तब वह मास को कैसे ग्रहण कर सकता है? आज भी जैन गृहस्थ, जिन्ह कि जैन धर्म पर श्रद्धा है, वे कदापि मास भक्षण नही करते। इस कारण से आज भी यह बात जगत्प्रसिद्ध है कि यदि कोई व्यक्ति मासभक्षण तथा रात्रिभोजन न करता हो तो लोग उसे तुरन्त कह देते हैं—"यह व्यक्ति जैनधर्मानुयायी है।"

यह तो हुई भगवान् महावीर, निर्ग्रंथ मुनि तथा जैन गृहस्थो की बात। परन्तु आप यह जान कर आश्चयचकित होंगे कि जो जातिया किसी समय मे जैन धर्म का पालन करती थी किन्तु अनेक शताब्दियो से जैन श्रमणो का उनके प्रदेशो मे आवागमन न होने से वे अन्य धर्मावलम्बियो के प्रचारकों के प्रभाव से जैन धर्म को भूल कर अन्य धर्म-सम्प्रदायो की अनुयायी बन चुकी हैं और उन्हें इस बात का ज्ञान है कि उनके पूर्वज जैन धर्मानुयायी थे वे आज तक भी मास भक्षण तथा रात्रिभोजन और अभक्ष्य वस्तुओ का भक्षण नही करती। जिनमे से यहा एक ऐसी जाति का परिचय दे देने से हमारी इस धारणा को पुष्टि मिलेगी।

बगाल देश मे, जहा आज भी मास-मत्स्यादिभक्षण का खूब प्रचार है वहां सर्वत्र लाखों की सख्या मे एक ऐसी मानव जाति पायी जाती है

जो "सराक" के नाम से प्रसिद्ध है। सराक शब्द "सरावक-श्रावक" का अपभ्रंश होकर बना है। ये लोग कृषि, कपड़ा बुनने तथा दुकानदारी आदि का व्यवसाय करते है। ये लोग उन प्राचीन जैन श्रावकों[1] के वंशज है जो जैन जाति के अवशेष रूप हैं। यह जाति आज प्रायः हिन्दू धर्म की अनुयायी हो गई है। कही-कही अभी तक ये लोग अपने आपको जैन समझते है। इस जाति के विषय मे अनेक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों ने उल्लेख किया है। जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. मि० गेट अपनी सेंसर्स रिपोर्ट में लिखते हैं कि :—

इस बंगाल देश मे एक खास तरह के लोग रहते हैं। जिनको 'सराक' कहते है। इनकी संख्या बहुत है। "ये लोग मूल से जैन थे", तथा इन्हीं की दंतकथाओं एवं इनके पड़ौसी भूमिजो की दंतकथाओं से मालूम होता है कि—ये एक ऐसी जाति की सन्तान हैं जो भूमिजों के आने के समय से भी पहले बहुत प्राचीन काल से यहाँ बसी हुई है। इनके बड़ों ने पार, छर्रा, बोरा और भूमिजो आदि जातियो के पहले अनेक स्थानों पर मंदिर बनवाये थे। यह अब भी सदा से ही एक शान्तिमयी जाति है जो भूमिजो के साथ बहुत मेल-जोल से रहती है। कर्नल डैलटन के मतानुसार ये जैन है और ईसा पूर्व छठी शताब्दी (Sixth Century B. C.) से ये लोग यहाँ आबाद है।

यह शब्द "सराक" निःसन्देह "श्रावक" से ही निकला है, जिस का अर्थ संस्कृत मे 'सुनने वाला' होता है। जैनों में यह शब्द गृहस्थों के लिये आता है जो लौकिक व्यवसाय करते हैं और जो यति या साधु से भिन्न हैं।

(मि० गेट सेंसर्स रिपोर्ट)

---

१. जैनागमों में श्रावक शब्द गृहस्थ व्रतधारी जैनों के लिये आया है, परन्तु बौद्धों ने श्रावक शब्द बौद्ध भिक्षुओ के लिये प्रयोग किया है। 'सराक' जो कि श्रावक शब्द का अपभ्रंश है वह गृहस्थों को जाति के लिये प्रसिद्ध है। इसलिये यह जाति जैन गृहस्थ-श्रमणोपासकों का अवशेष रूप है इसमें सन्देह नही है।

२ मि० सरसली कहते हैं कि—

यद्यपि मानभूम के 'सराक' अब हिन्दू हैं परन्तु वे अपने को प्राचीन काल मे जैन होने की बात को जानते हैं। वे पक्के शाकाहारी हैं, मात्र इतना ही नही परन्तु 'काटने' के शब्द को भी वे व्यवहार मे नही लाते।

३ मि० एवकूप लैंड का मत है कि—

'सराक' लोग हिंसा से घृणा करते हैं। दिनको खाना अच्छा समझते हैं। सूर्योदय बिना भोजन नही करते। गूलर आदि कीडे वाले फलो को भी नही खाते। श्री पार्श्वनाथ (जैनो के तेईसवें तीर्थंकर) को पूजते हैं और उन्हें अपना कुलदेवता मानते है। इनके गृहस्थाचार्य भी सराको की तरह कदापि रात्रिभोजनादि नही करते। इनमे एक कहावत भी प्रसिद्ध है—

"डोह डूमर (गूलर) पोडो छाती ए चार नहीं खाये सराक जाति।"-[१]

४ A S B 1868 N/85 में लिखा है कि —

They are represented as having great scruples against taking life They must not eat till they have seen the sun (before sunrise) and they venerate Parashvanath

अर्थात्—वे (सराक) ऐसे लोगो के अनुयायी हैं जो जीवहत्या रूप हिंसा से अत्यन्त घृणा करते हैं और वे सूर्योदय होने से पहले कदापि नही खाते तथा वे श्री पार्श्वनाथ के पूजक हैं।

५ मि० वेगलर व कर्नल डैलटन का मत है कि —

ब्राह्मणो व उनके मानने वालो ने ईसा की सातवी शताब्दी के बाद जैन श्रावको को अपने प्रभाव मे दबा लिया। जो कुछ बचे और उनके धर्म मे नही गये वे इन स्थानो से दूर जाकर रहे।

---

१ इन सब बातो का खुलासा श्रावक के सातवें "भोगोपभोग-परिमाण व्रत" म अगले खण्ड मे करेंगे। और बतलायेंगे कि व्रतधारी जैन श्रावक के लिये इन नियमो का पालन अनिवार्य होता है।

(६) यह वात वड़े गौरव की है कि जिस जाति को जैन धर्म भूले हुए आज तेरह सौ वर्ष हो गये है उनके वंशज आज तक वंगाल जैसे मांसाहारी देश मे रहते हुए भी कट्टर निरामिषाहारी है। इस जाति में मत्स्य तथा मास का व्यवहार सर्वथा वर्ज्य है। यहाँ तक कि वालक भी मत्स्य या मांस नही खाते। मांसाहारी और हिंसकों के मध्य में रहते हुए भी ये लोग पूर्ण अहिसक तथा निरामिषभोजी है।

७. कर्नल डेलटन का मत है किः—

इस जाति को यह अभिमान है कि इस मे कोई भी व्यक्ति किसी फ़ौजदारी अपराध मे दंडित नही हुआ। और अव भी संभव है कि इन्हें यही अभिमान है कि इस ब्रिटिश राज्य में भी किसी को अव तक कोई फ़ौजदारी अपराध पर दंड नही मिला। ये वास्तव मे शात और नियम से चलने वाले है। अपने आप और पड़ीसियों के साथ शाँति से रहते है। ये लोग वहुत प्रतिष्ठित तथा वुद्धिमान मालूम होते है।

(८) अनेको जैन मन्दिर और जैन तीर्थकरो, गणधरो, निर्ग्रथों, श्रावक, श्राविकाओं की मूर्त्तियाँ आज भी इस देश मे सर्वत्र इधर-उधर विखरी पड़ी हैं, जो कि "सराक" लोगों के द्वारा निर्मित तथा प्रतिष्ठित कराई गयी है। (A. S. B. 1868)

सारांश यह है कि हजारो वर्षो से अपने मूल धर्म (जैन धर्म) को भूल जाने पर भी और अन्य मांसाहारी धर्म-सप्रदायों में मिल जाने के वाद भी इन सराकों में जैन धर्म के आचार सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ आज भी विद्यमान है।

इस सारे विवेचन से यह वात स्पष्ट है कि जैन धर्म निर्यामक निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर आदि तीर्थकरों ने अहिंसा का ऐसा अलौकिक आदर्श स्वयं अपने आचरण मे लाकर विश्व के लोगों को इस पर चलने का आदेश दिया, जिसके परिणाम स्वरूप जिन्होंने उन के धर्म को स्वीकार किया ऐसा जैन संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका)

आज के गन्दे और दूषित वातावरण (जिसमे मास-मत्स्य तथा मदिरा जैसी घृणित वस्तुओ का विश्वव्यापी प्रचार हो रहा है) मे भी अक्षुण्ण रूप से निरामिपाहारी है। मात्र इतना ही नही परन्तु जैन तीर्थंकरा की अहिसा की लोगो पर उस समय इतनी गहरी छाप पडी थी कि जो सराकादि जातियाँ हजारो वर्षोसे जैन धर्म को भूल चुकी हैं वे भी आजतक कट्टर निरामिपभोजी रही हैं। श्रमण भगवान् महावीर की अहिमा ने उस समयकी सर्वसाधारण जनता पर इतना जबर्दस्त प्रभाव डाला कि उस समय के बौद्ध आदि प्राण्यग मत्स्य-मासादि भक्षक सम्प्रदायो को भी अप सैद्धान्तिक रूप से, इच्छा मे नही तो दवाव से अथवा लोकनिन्दा के भय से ही अहिमा के सिद्धान्त को किमी न किमी रूप से अपनाना पडा। इस लिये यह् कहना कोई अतिशयोक्ति नही है कि "अहिसा शब्द का प्रधान सम्बन्ध जैनो के साथ ही है।"

भारतगौरव स्वर्गवासी लोकमान्य तिलक ने तो स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि—"जैन धम की अहिसा ने वैदिक-ब्राह्मण धर्म पर गहरी छाप डाली है। जव भगवान् महावीर जैन धम को पुन प्रकाश मे लाये तब अहिसा धर्म खूब ही व्यापक हुआ। आज कल यज्ञो मे जो पशु-हिसा नही होती—ब्राह्मण और हिन्दू धर्म मे मास भक्षण और मदिरा-पान बन्द हो गया है वह भी जैन धम का ही प्रताप है।"

अहिमा तो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, प्राण है और इसका पहला पाठ मासाहार निषेध से ही प्रारभ होता है। जैनधर्म की मान्यता है कि चाहे भगवान् महावीर हो या बुद्ध अथवा कोई भी महान् व्यक्ति क्यो न हो यदि वह मासाहार करता है तो वह भगवान् पद का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। मासाहारी न तो स्व स्वरूप को समझ सकता है और न ही शुद्ध और सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है, इसलिये यह अनन्त सुख का मार्ग भी नही खोज सकता और न ही वह उच्चतम चारित्र का पालन कर सकता है। और उच्चतम

चारित्र के अभाव में सर्व कर्मजन्य उपाधि से मुक्ति रूप निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति कदापि नही कर सकता।

जैन श्रमणोपासकों (गृहस्थों), जैन धर्म के प्रचारक निर्ग्रथों (साधुओं) तथा जैनधर्मनिर्यामिक तीर्थकरों का आचार कितना पवित्र था और है इस का संक्षिप्त विवेचन करना इस लिये यहाँ आवश्यक है कि आप देखेंगे—ऐसे चरित्र वाला कोई भी व्यक्ति प्राण्यंग मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का कदापि भक्षण नही कर सकता।

जैन गृहस्थों (श्रावक-श्राविकाओं) का आचार

जैन गृहस्थों में पुरुष को श्रावक तथा स्त्री को श्राविका कहते हैं।

(क) गृहस्थ धर्म की पूर्व भूमिका

संघविभाजन—तीर्थंकर भगवान् ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभाविक ही था कि उसे स्थायी और व्यापक रूप देने के लिये वे संघ की स्थापना करते। क्योंकि संघ के बिना धर्म ठहर नहीं सकता।

जैन संघ चार श्रेणियों में विभक्त है—

१ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक, ४ श्राविका।

इसमें साधु-साध्वी का आचार लगभग एक जैसा है और श्रावक-श्राविका का आचार एकसा है।

मुनि (साधु-साध्वी) के आचार का उल्लेख आगे करेंगे। यहाँ पर श्रावक-श्राविका के आचार का वर्णन करते हैं, क्योंकि श्रावक-श्राविका का भी जैन शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक का आचार मुनिधर्म के लिये नींव के समान है। इसी के ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

श्रावक पद का अधिकारी—

जैन धर्म में जैन मुनियों के लिये आवश्यक आचार-प्रणालिका निश्चित है और उस आचार का पालन करनेवाला साधक ही मुनि कहलाता है। इसी प्रकार श्रावक होने के लिये भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं। प्रत्येक गृहस्थ मात्र श्रावक नहीं कहला सकता, बल्कि विशिष्ट व्रतों का अङ्गीकार करने वाले गृहस्थ पुरुष व स्त्री ही श्रावक-श्राविका कहलाने के अधिकारी हैं।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक-श्राविका वनने की योग्यता प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित सात दुर्व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है :—

१. जुआ खेलना, २. मांसाहार, ३. मदिरापान, ४. वेश्यागमन, ५. शिकार, ६. चोरी, ७. परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन । ये सात दुर्व्यसन[1] है ।

ये सातों ही दुर्व्यसन जीवन को अध.पतन की ओर ले जाते हैं ।[2] इनमें से किसी भी एक व्यसन मे फंसा हुआ अभागा मनुष्य प्रायः सभी व्यसनों का शिकार वन जाता है ।

इन सात व्यसनों मे से नियम पूर्वक किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाले ही श्रावक-श्राविका वनने के पात्र होते हैं।

(ख) श्रावक वनने के लियेः—

उपर्युक्त सात व्यसनों के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहिये । जैन परिभाषा मे उन्हे मार्गानुसारी गुण कहते है । इन गुणो मे से कुछ ये हैः—

नीति पूर्वक धनोपार्जन करे, शिष्टाचार का प्रशंसक हो, गुणवान् पुरुषो का आदर करे, मधुरभापी हो, लज्जाशील हो, शीलवान हो, माता-पिता का भक्त एवं सेवक हो, धर्मविरुद्ध, देशविरुद्ध—एव कुलविरुद्ध कार्य न करने वाला हो, आय से अधिक व्यय न करनेवाला हो, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला हो, देव-गुरु (जिनेन्द्र प्रभु तथा निर्ग्रंथ गुरु) की भक्ति करने वाला हो, नियत समय पर परिमित सात्त्विक भोजन करने वाला, अतिथि-दीन-हीन जनों का एवं साधु-संतों का यथोचित सत्कार करने

---

१. मज्जपसंगी, चोज्जपसंगी, मंसपसंगी, जूयपसगी, वेसापसंगी, परदारपसगी । (ज्ञातासूत्र अ० १८ सू० १३७)

जल-थल-खगचारिणो य पंचिदिए पसुगणे बिय-तिय-चउरिदिए य विविहजीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणंति ।

(प्रश्नव्याकरण प्रथम अ०)

२ विपाकसूत्र—दु.खविपाक (सप्त दुर्व्यसनों का फल)

वाला, गुणो का पक्षपाती, अपने आश्रित जनो का पालन-पोषण करने वाला, आगा-पीछा सोचने वाला, सौम्य, परोपकारपरायण, काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओ को दमन करने मे उद्यत और इन्द्रियो पर काबू रखने वाला हो। इत्यादि गुणो से युक्त गृहस्थ ही श्रावकधर्म का अधिकारी है।

एव प्रत्येक तत्त्व के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने की अभिरुचि से तत्त्वो के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए सत् श्रद्धान वाला गृहस्थ ही श्रावकधर्म का अधिकारी है।[1]

(ग) श्रावकधर्म

जैन शास्त्र का विधान है—"चारित्त धम्मो।" अर्थात् चारित्र ही धर्म है।" चारित्र क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

"असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।"

अर्थात्—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना तथा शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होना चारित्र कहलाता है। वस्तुत सम्यकचारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है। सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है।

गृहस्थ वर्ग के लिए बतलाये गये बारह व्रतो मे से मात्र पहला अहिंसाणु-व्रत, सातवाँ भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदण्डत्याग व्रत—इन तीन व्रतो का ही यहाँ सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है। क्योकि इस निबन्ध का उद्देश्य मासाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का परिहार है, जिस का समावेश इन तीनो व्रतो मे होता है। अत विस्तार भय से बारह व्रतो के स्वरूप का उल्लेख करना उचित नही समझा गया।

श्रावक श्राविकाओं के बारह व्रतो के नाम

पाँच अणुव्रत—१ स्थूल प्राणातिपातविरमण अहिंसा अणुव्रत,

---

१ इति सम्यग्दर्शन सम्यमणुव्रतादीना ग्रहण, नान्यथेति।
(आचार्य हरिभद्रकृत धर्मबिन्दु प्र० ३)

(इ) सातवां भोगोपभोगपरिमाण व्रत—

एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं। जिन्हे पुनः पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्र, पात्र, मकान आदि उपभोग कहलाते है।[1] इन पदार्थों को काम मे लाने की मर्यादा बांध लेना "भोगोपभोगपरिमाण व्रत" है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागों में विभक्त किया गया है। भक्ष्य (मानव के खाने-पीने योग्य) भोजन पदार्थों की मर्यादा करने और अभक्ष्य (मानव के न खाने-पीने योग्य) पदार्थों का त्याग करने का इस व्रत के पहले भाग में विधान है। भोजन (भक्ष्य) पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है तथा अभक्ष्य पदार्थों (मांस, मदिरा आदि) के त्याग से लोलुपता के त्याग के साथ हिसा का त्याग भी हो जाता है। दूसरे भाग में व्यापार संबन्धी मर्यादा कर लेने से पाप-पूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है।

इस व्रत को अङ्गीकार करने वाला साधक मदिरा, मांस, शहद, तथा दो घड़ी (४८ मिनट) छाछ में से निकालने के बाद का मक्खन (क्योंकि दो घड़ी के बाद मक्खन मे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है), पाँच उदुम्बर फल (बड़-पीपल-पिलंखण-कठुमर-गूलर के फल), रात्रिभोजन इत्यादि का त्याग करता है। क्योकि इन सब मे त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है इस लिये इनके भक्षण से मांसाहार का दोष लगता है, जो कि श्रावक के लिये सर्वथा वर्जित है।[2] सारांश यह है कि ऐसे सब प्रकार के पदार्थ, जिनके

---

१. सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः।
पुन. पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिकः॥
(योगशास्त्र प्र० ३ श्लो० ५)।

२. मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपंचकम्।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्॥ ६॥
आम गोरस सम्पृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत्॥ ७॥
(आ० हेमचन्द्रकृत योग शास्त्र प्र० ३)।

प्रदान से आमिषाहार की सम्भावना हो अथवा बुद्धि में विकार आवे, श्रावक के लिये वर्जित हैं।" ऐसे व्यापार जिन में त्रस जीवों की हिंसा विशेष रूप से सम्भव हो, श्रावक के लिये वर्जित हैं। जैसे—वृक्षों को काट-काट कर कोयला बनाना, ठेका ले कर जंगल को उजाड़ना, हाथी-दांत आदि का व्यापार करना, मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का विक्रय करना, प्राणघातक विष बेचना, और दुराचारिणी स्त्रियों से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना, आदि निंद्य व्यापारों का भी श्रावक त्याग कर देता है।

(घ) आठवाँ अनर्थदण्डविरमण व्रत—

अनर्थदण्डत्याग—बिना प्रयोजन हिंसादि करना अनर्थदण्ड कहलाता है। इसका भी श्रावक को त्याग करना चाहिये।

---

१ (क) मदिरा के दोष—

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वह्निकणादिव ॥ १६ ॥
दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम्।
रोगातुर इवापथ्यं तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

(ख) मांस के दोष—

चिखादिषति यो मांसं प्राणिप्राणापहारतः।
उन्मूलयत्यसौ मूलं दयाख्यं धर्मशाखिनः ॥ १८ ॥
अशनीयन् सदा मांसं दयां यो हि चिकीर्षति।
ज्वलति ज्वलने वल्लीं, स रोपयितुमिच्छति ॥ १९ ॥
सद्यः सम्मूर्छितानन्तजन्तुसन्तानदूषितम्।
नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ? ॥३३॥

(ग) नवनीत (मक्खन) के दोष—

अन्तर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं नवनीतं विवेकिभिः ॥ ३४ ॥

(घ) मधु (शहद) के दोष—

अनेकजन्तुसङ्घातनिघातनसमुद्भवम्।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकम् ? ॥३६॥

निर्ग्रन्थ श्रमण [जैन साधु-साध्वी] का आचार

जैनागमों में त्यागमय जीवन अङ्गीकार करने वाले व्यक्ति की योग्यता का विस्तृत वर्णन किया है। आयु का कोई प्रतिवन्ध न होने पर भी जिसे शुभ तत्त्व-दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग-रोग और इन्द्रियो के विपयों को विप समझ चुका है तथा जिसके मानस सर में वैराग्य की ऊर्मियाँ लहराने लगी है वही त्यागी निर्ग्रथ वनने के योग्य है। पूर्ण विरक्त होकर शरीर सम्वन्धी ममत्व का भी त्याग करके जो आत्म-आराधना मे संलग्न रहना चाहता है वह जैन मुनिधर्म अर्थात् जैन दीक्षा ग्रहण करता है।

उसे घर-वार, धन-दौलत, स्त्री-परिवार, माता-पिता, खेत-जमीन आदि पदार्थों का त्याग करना पड़ता है। सच्चा श्रमण वही है जो अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह अपनी पीड़ा को वरदान मान कर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, मगर पर-पीड़ा उसके लिये असह्य होती है। जैन साधु वह नौका है जो स्वयं तैरती है तथा दूसरों को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते है—साधुओ ! श्रमण निर्ग्रथों के लिये लाघव-कम-से-कम साधनों से निर्वाह करना, निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूर्छा—अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिवद्धता, शान्ति, नम्रता, सरलता निर्लोभता ही प्रशस्त है।

जैन भिक्षु के लिये पाँच महाव्रत अनिवार्य है। उन्हे रात्रिभोजन का भी सर्वथा त्याग होता है। इन महाव्रतों का भलीभांति पालन किये विना कोई साधु नही कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार हैं :—

"पाणिवह–मुसावाया-अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।"

१ अहिंसा महाव्रत—जीवन पर्यन्त त्रस (हलन-चलन की सामर्थ्य वाले) और स्थावर (एक स्थान पर स्थिर रहने वाले) सभी जीवो की मन, वचन, काया से हिंसा न करना, दूसरो से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना—अहिंसा महाव्रत है ।

साधु प्राणिमात्र पर करुणा की दृष्टि रखता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है। अग्निकाय के जीवो की हिंसा से बचने के लिये अग्नि का उपयोग नही करता । पखा आदि हिला कर वायु की उदीरणा नही करता । पृथ्वीकाय के जीवो की रक्षा के लिये जमीन खोदने आदि की क्रियाएँ नही करता । वह अचित्त-जीवरहित आहार को ही ग्रहण करता है। मासाहार सर्वदा सजीव होने से उसका सर्वथा त्यागी होता है। महाव्रतधारी जैन साधु स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवो की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है ।

जैन मुनि रात्रि भोजन का भी त्यागी होता है, क्योकि रात्रि-भोजन मे आसक्ति और राग की तीव्रता होती है तथा जीव-जन्तु आदि के गिर जाने से हिंसा एव मासाहार दोष का लगना भी सभव है ।

श्रमण भगवान् महावीर फरमाते हैं कि—

सूर्य के उदय से पहले तथा सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रंथ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिये। क्योकि ससार मे बहुत से त्रस जीव (चलने-फिरने, उडने वाले) और स्थावर (एक स्थान पर रहने वाले) प्राणी बडे ही सूक्ष्म होते हैं। वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते, तो रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है ?

जमीन पर कही पानी पडा होता है, कही बीज बिखरे होते हैं और कहीं पर सूक्ष्म कीडे-मकौडे आदि जीव होते हैं। दिन मे उन्हें देख भाल कर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि को उन्हें बचाकर भोजन करना

आत्म-साधक बनाने के प्रयत्न में संलग्न रहता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, वर्षा-धूप की भी परवाह न करके वह सतत ध्यान, तप तथा प्राणियों के उपकार के लिये पर्यटक बना रहता है। सब प्रकार के परिषह और उपसर्गों को सहर्ष सहन करते हुए भी अपने जीवनलक्ष्य का त्याग नहीं करता। किसी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी की भी हिंसा उससे न हो जाय इसके लिये वह सदा सावधान रहता है और इस दोष से बचने के लिये वह अपने पास सदा रजोहरण[1] रखता है तथा सचेत कच्चा, पक्का अथवा दोष वाला ऐसा वनस्पति का आहार भी कभी ग्रहण नही करता। वस्तु के निकम्मे भाग को डालने से किसी एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा न हो जाय इसकी पूरी सावधानी रखकर स्थान को देखभाल कर तथा पूंज-प्रमार्जन करके डालता है।

इस प्रकार निर्ग्रंथ श्रमण-जैन साधु एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा से बचने के लिये सदा जागरूक रहता है।

---

१. एक ऊनादि नरम वस्तु का गुच्छा, जिससे स्थान साफ़ करने पर जीवादि की हिंसा का बचाव होता है।

भगवान् महावीरस्वामी का त्यागमय जीवन

कुमार वर्धमान-महावीर स्वभाव से ही वैराग्यशील एवं एकान्त-प्रिय थे। उनके माता-पिता तथा सारा परिवार भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। उन्होंने माता-पिता के आग्रह से गृहवास स्वीकार किया। इससे जब वे २८ वर्ष के हुए और उनके माता-पिता का देहांत हो गया तब उनका मन दीक्षा (साधु होने) के लिये उत्कण्ठित हो उठा। परन्तु बड़े भाई नन्दिवर्धन तथा अन्य स्वजन वर्ग के अति आग्रह के कारण उन्होंने दो वर्षों के लिये और घर ठहरना स्वीकार कर लिया। किन्तु उसमें शर्त यह थी कि "आज से मेरे निमित्त कुछ भी आरम्भ-समारम्भ न करना होगा।" अब वर्धमान गृहस्थ वेष में रहते हुए भी त्यागी जीवन बिताने लगे। अपने लिये बने हुए भोजन, पेय तथा अन्य भोग सामग्री का बिल्कुल उपयोग (इस्तैमाल) न करते हुए वे साधारण भोजनादि से अपना निर्वाह करने लगे। ब्रह्मचारियों के लिये वर्जित तैल-फुलैल, माल्य-विलेपन, और अन्य शृंगार साधनों को उन्होंने पहले ही छोड़ दिया था। गृहस्थ होकर भी वे सादगी और संयम के आदर्श बने हुए शांतिमय और त्यागमय जीवन बिताते थे।

भगवान् महावीर स्वामी ने तीस वर्ष की आयु में गृह-वैभव तथा गृहस्थाश्रम का त्याग कर एकाकी 'जिन दीक्षा' ग्रहण की। आपने सब प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग किया। वस्त्र, पात्र, अलंकार आदि सब का त्याग कर साढ़े बारह वर्ष (१२ वर्ष, ६ महीने, १५ दिन) तक घोर तप किया। इतने समय में आपने ३४९ दिन आहार किया, वह भी दिन में मात्र एक ही बार। इतना समय तप करने के बाद छद्मस्थावस्था

भगवान् महावीर को बौद्ध ग्रन्थों में 'निगण्ठ नाथपुत्त' के नाम से सम्बोधित किया है। बौद्धो के 'सुत्त पिटक' नामक ग्रन्थ में निर्ग्रन्थों (जैनों) के मत की काफी जानकारी मिलती है। इन्ही के "मज्झिम निकाय के चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त" नामक ग्रन्थ में वर्णन है कि राजगृह में निर्ग्रन्थ खड़े-खडे तपश्चर्या करते थे। निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। चलते हुए, खडे रहते हुए, सोते हुए या जागते हुए, हर स्थिति मे उनकी ज्ञानदृष्टि कायम रहती थी।

भगवान् महावीर का आचार—

भगवान् महावीर पाँच महाव्रतधारी तथा रात्रिभोजन के सर्वथा त्यागी थे। इन व्रतों का स्वरूप जैन श्रमण के आचार मे कर आये है।

भगवान् महावीर दीक्षा (सन्यास) लेने के बाद एक वर्ष तक मात्र एक देवदूष्य वस्त्र सहित रहे, तत्पश्चात् सर्वथा नग्न रहते थे। हाथों की हथेलियों में भिक्षा ग्रहण करते थे। उनके लिये तैयार किये हुए अन्नादि आहार को वे स्वीकार नहीं करते थे और न ही किसी के निमन्त्रण को स्वीकार करते थे। मत्स्य, मॉस, मदिरा, मादक पदार्थ, कन्द, मूल आदि अभक्ष्य वस्तुओं को कदापि ग्रहण नही करते थे। प्रायः तपस्या तथा ध्यान मे ही रहते थे। छः छ. मास तक निर्जल उपवास (सब प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओ का त्याग) करते थे। दाढ़ी मूछ के बाल उखाड़ कर केश लोच करते थे। स्नानादि के सर्वथा त्यागी थे। छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े किसी भी प्राणी की हिसा न हो जाय इसके लिए वे बहुत सतर्कता पूर्वक सावधानी रखते थे। वे बडी सावधानी से चलते-फिरते, उठते-बैठते थे। पानी की बूदों पर भी तीव्र दया रहती थी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव का भी नाश न हो जाय इसके लिये बहुत सावधानी रखते थे। भयावने जंगलों, अटवियो आदि निर्जन जगहो में ध्यानारूढ रहते थे। वे स्थान इतने भयंकर होते थे कि यदि कोई सांसारिक मनुष्य वहाँ प्रवेश करता तो उसके रोगटे खड़े हो जाते। जाड़ों में हिमपात

की भयानक सर्दी मे भी अग्नि की आतापना नही लेते थे। सख्त गर्मी के मौसम मे भी पखे आदि से हवा नही करते थे। पृथ्वी पर चलते समय वनस्पति तथा पृथ्वीकाय के जीवो की विराधना न हो जाय इसकी पूरी-पूरी सावधानी रखते हुए विहार करते थे।

ऐसा आचरण सभी जैन तीर्थंकरो का होता है। आज भी तपश्चर्या तथा पाँच महाव्रतो के अभ्यास से कर्म क्षय किये जा सकते हैं। यह परम्परा आज भी जैनो मे कायम है।

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महावीर प्रभु विश्व मे दुःख सतप्त प्राणियो के उद्धार के लिये सतत सर्वत्र घूमकर कल्याणकारी उपदेश देते रहे और ७२ वर्ष की आयु मे उन्होने निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

का आधार मन:कल्पना और अनुमान की भूमिका पर नही था, परन्तु उनके प्रवचन में केवलज्ञान द्वारा हाथ में रखे हुए आंवले के समान समस्त विश्व के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानकर लोकालोक के मूल तत्त्व-भूत द्रव्य-गुण-पर्याय के त्रिकालवर्ती भावों का दिग्दर्शन था। अथवा आधुनिक परिभाषा मे कहा जाए तो उसमे विराट विश्व या अखिल ब्रह्माण्ड (Whole Cosmos) की विधि विहित घटनाएँ (Natural phenomena), उनके द्वारा होती हुई व्यवस्था (Organisation), विधि का विधान और नियम (Law and order) का प्रतिपादन तथा प्रकाशन था।

---

[६]

श्रमण भगवान् महावीर तथा अहिंसा

साढे बारह वर्ष की कठिन तपस्या और घोर योगचर्या के पश्चात् भगवान् महावीर-वर्धमान को केवलज्ञान—केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जीवनमुक्त परमात्मा हुए। अब तीर्थंकर प्रकृति का पूर्ण विकास उन के महान् व्यक्तित्व में हुआ। केवलज्ञान की प्राप्ति से भगवान् महावीर सारे विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को हाथ की अंगुलियो के समान प्रत्यक्ष जानने लगे। उस समय वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के जीवित पुञ्ज थे। जैनागमो में सर्वत्र भगवान् महावीर को सर्वज्ञ सर्वदर्शी माना है। ज्ञातपुत्र महावीर के समकालीन बौद्धों के पिटकों में भी भगवान् महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार किया है। बौद्धो के 'अंगुत्तरनिकाय' नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि ज्ञातपुत्र महावीर सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनन्त थी। वे चलते-बैठते, सोते-जागते हर समय सर्वज्ञ थे[१]। 'मज्झिम निकाय' में उल्लेख है कि ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञ हैं।[२] वे जानते हैं कि किस-किसने किस प्रकार का पाप किया है और किसने नहीं किया है।

भगवान् महावीर अहिंसा तत्त्व की साधना करना चाहते थे। उस के लिये उन्होंने संयम और तप ये दो साधन पसन्द किये। उन्होंने यह विचार किया कि मनुष्य अपनी सुखप्राप्ति की लालसा से प्रेरित होकर ही अपने से निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देता है और

---

१ अं० नि० १-२२०
२. म० नि० २-२१४-२८।

इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के कारण व्यक्तियों और समूहों में द्वेष बढ़ाता है, शत्रुता की नीव डालता है और इसके फलस्वरूप पीड़ित एवं पददलित जीव वलवान होकर वदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते है और वदला लेते भी हैं। इस तरह हिंसा और प्रतिहिंसा का ऐसा विपचक्र तैयार हो जाता है कि लोग संसार के सुख को स्वयं ही नरक वना देते है। हिसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसातत्त्व मे ही समस्त धर्मो का, समस्त कर्त्तव्यों का और प्राणिमात्र की शान्ति का मूल देखा। यह विचार कर उन्होंने वैरभाव को तथा कायिक और मानसिक दोषों से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये तप और संयम का अवलम्बन लिया।

संयम का सम्वन्ध मुख्यतः मन और वचन के साथ होने के कारण उन्होंने ध्यान और मौन को स्वीकार किया। भगवान् महावीर के साधक-जीवन में संयम और तप यही दो वाते मुख्य है और उन्हें सिद्ध करने के लिये उन्होंने साढ़े वारह वर्षो तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता और अप्रमाद का परिचय दिया वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया हो, वह दिखलाई नहीं देता। गौतम वुद्ध आदि ने महावीर के तप को देह-दुःख और देहदमन कह कर उसकी अवहेलना की है। परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिये भगवान् महावीर के जीवन पर तटस्थता से विचार करते तो उन्हें यह मालूम हुए विना कदापि न रहता कि भगवान् महावीर का तप शुष्क देहदमन नही था। वे संयम और तप दोनों पर समान रूप से ज़ोर देते थे। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुखसुविधा की आहुति देकर अपनी सुखसुविधा वढाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पायेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी पराधीन प्राणी पर अनिच्छा पूर्वक आ पड़े देह कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसातत्त्व के

अधिकाधिक निकट पहुँचते गये त्यो-त्यो उनकी गम्भीर शान्ति बढने लगी। जिसके प्रभाव से उन्होने राग-द्वेष को सवथा क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति कर सवज्ञत्व प्राप्त किया।

भगवान् महावीर के समकालीन अनेको धमप्रवर्तक थे उनमे से १ तथागत गौतम बुद्ध, २ पूणकश्यप, ३ सजय वेलट्ठिपुत्त, ४ पकुध-कच्चायन, ५ अजितकेस कम्बलि और ६ मखली गोशालक के नाम मिलते हैं। (भगवान् महावीर इनके अलावा थे)।

उस समय के सर्व धम-प्रवतको से भगवान् महावीर के तप-त्याग-सयम तथा अहिंसा की जनता के मानस पर वहुत गहरी छाप पडी थी, क्योकि उन्होने राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियो पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिससे वे वीतराग बने थे। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग मे न हो सके वह अहिंसा, तप तथा त्याग कैसा ही क्यो न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। अत प्रभु महावीर ने राग-द्वेष की विजय पर ही मुख्यतया भार दिया था और अपने आचरण मे आत्मसात् कर उन्होने अपनी काया, वाणी तथा मन पर कावू पाया था अर्थात् अपने दैहिक और मानसिक सव प्रकार के ममत्व का त्याग कर राग-द्वेष को सर्वथा जीतने से समदृष्टि बने थे। इसी दृष्टि के कारण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धम का बाह्य और अभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब प्रकार का आचार साम्यदृष्टिमूलक, अहिंसा की भित्ति पर ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न हो सके ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नही रखती।

यद्यपि अन्य सब धार्मिक परम्पराओ ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है, पर जैन परम्परा ने इस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धम-परम्परा मे देखी नही जाती। जैनधर्म ने मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग और वनस्पति ही नही किन्तु पार्थिव, जलीय, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओ तक की हिंसा से, आत्मौपम्य की भावना द्वारा, निवृत्त होने के लिये कहा है।

अहिंसा के इस उपर्युक्त विवेचन से भगवान् महावीर के आदर्श अहिंसामय जीवन का और उनके द्वारा प्रदत्त अहिंसा के उपदेश का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है।

केवल भगवान् महावीर ने ही नही परन्तु सब जैन तीर्थंकरो ने प्राणिवध एवं मासाहार का विरोध अपने अपने समय मे किया था।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नही पर सभी वर्गो मे मास खाने की प्राय. प्रथा होगी। उस युग मे यदुवंशीय नेमिकुमार ने एक अद्भुत कदम उठाया। उन्होने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते कतल किये जाने वाले पशु-पक्षियो की आर्त्त मूक वाणी से सहसा पिघल कर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें पशु पक्षियों का वध होता है। उस गभीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आये। द्वारका से सीध गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होने तपस्या की। भर जवानी मे उन्होंने सांसारिक सुखभोगों की परवाह न करते हुए राजपुत्री, राजीमती को त्यागकर और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपना कर चिरप्रचलित पशु-पक्षीवध की प्रथा पर इतना सख्त प्रहार किया कि गुजरात भर में तथा उसके प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तो में भी यह प्रथा सदा के लिये समाप्त हो गई।

भगवान् पार्श्वनाथ ने भी जीवहिंसा के विरोध करने के कारण महान् उपसर्ग सहे। दुर्वासा जैसे सहज कोपी कमठ नामक तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठा कर भी एक जलते साँप को गीली लकडी से बचाने का प्रयत्न किया।

दीर्घतपस्वी महावीर ने भी स्थान-स्थान पर तथा समय-समय पर अपनी अहिंसक वृत्ति का अपने जीवन में अनेक वार परिचय दिया।
१. जब जंगल मे वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर (चण्डकौशिक) ने उन्हे डँस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे परन्तु उन्होंने मैत्री भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह सदा के लिये वैर-

होने वाली हिंसा को रोकने का भरसक प्रयत्न तो वे आजन्म करते ही रहे। इसीलिये तो उन्होंने अहिंसा को जैन श्रमणो तथा जैन श्रावको के व्रतो मे सर्वप्रथम स्थान दिया है—

"तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिय।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभएसु सजमो ॥
(द० अ० ६ गा० ९)
एव खु णाणिणो सार, ज न हिंसई कचण।
अहिंसा समय चेव, एतावत विजाणिया ॥"
(सू० श्रु० १ अ० ११ गा० १०)

अर्थात् अहिंसा को प्रभु महावीर ने (साधु और श्रावक के व्रतो मे) सर्वप्रथम रखा है। अहिंसा को उन्होंने कल्याणकारी ही देखा है। सब जीवो के प्रति सयमपूर्ण जीवनव्यवहार ही उत्तम अहिंसा है।

ज्ञानियो के वचनो का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाए। अहिंसा के द्वारा प्राणियो पर समभाव ही धर्म समझना चाहिये।

साराश यह है कि जैन तीर्थंकर अहिंसा की सुरक्षा के लिये आजन्म कटिबद्ध रहे और अनेक कठिनाइयो के बीच भी इन्होंने अपने आदर्शों द्वारा विश्व को मैत्री तथा करुणा का पाठ पढाया है। उनके ऐसे ही आदर्शों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती आयी है और अनेक कठिनाइयो के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह सभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास मे जीवित है।

भगवान् महावीर के मांसाहार सम्बन्धी विचार

१--करुणा के प्रत्यक्ष अवतार भगवान् महावीर ने मॉसाहार को दुर्व्यसनों में माना है और इसे नरक का कारण भी बतलाया है। जैनागम स्थानॉग सूत्र के चौथे स्थान में भगवान महावीर फरमाते हैं कि "चार कारण से प्राणी नरक में जाता है—(१) महारम्भ से, (२) महापरिग्रह रखने से; (३) पँचेन्द्रिय जीवों का वध करने से, (४) माँस भक्षण करने से। पंचमॉग भगवती सूत्र, उववाई सूत्र तथा स्थानांग सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है:—

वह सूत्र पाठ इस प्रकार है :—

"चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहाः—
महारंभताते, महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेण ॥"
(ठाणांग सूत्र ठा० ४)

२—जैन साहित्य में घातक (कसाई-हिंसक) किन्हें कहना चाहिए उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

"अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता, चोपहर्ता च खादकाश्चेति घातकाः ॥"

अर्थात् १—मारने की सलाह देने वाला, २—प्राणियों के शरीर को काटने वाला, ३—मारने वाला, ४—मॉस मोल लेने वाला, ५—मॉस

बेचने वाला, ६—माँस पकाने वाला, ७—माँस परोसने वाला, ८—तथा मास खाने वाला ये सब घातक (कसाई-हिंसक) हैं।

३—भगवान् महावीर ने माँसाहार, मदिरा और अभक्ष्य पदार्थों का आहार कितना पाप मूलक बतलाया है इसके विषय में जैनागम सूत्र-कृताग मे वर्णन है —

"जो लाग मदिरा, मास आदि अभक्ष्य पदार्थों का आहार करते हैं वे चाहे मल मल कर स्नान करें, चाहे नमक आदि स्वादु पदार्थों का त्याग कर दें उन्हें कभी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, वे तो अनर्थ के करने वाले हैं।" सूत्र पाठ यह है —

"पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,
खारस्स लोणस्स अणासएण।
ते मज्जमस लसुण च भोच्चा,
अनत्थ वास परिकप्पयति ॥१३॥

(सूत्रकृतांग श्रुतस्कध १ अध्ययन ७)

४—शराबी और माँसाहारी को कितनी घोर यातनाए नरक गति मे भोगनी पड़ती हैं इसका भी विस्तृत वर्णन जैनागमों मे पाया जाता है।

५—आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर फरमाते हैं कि "जैन भिक्षु को यदि कही माँस मछली अथवा उसकी खाल काटे आदि होने का पता लग जावे तो वह वहाँ न जाए। किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव, किसी सत्व को न मारना चाहिए, न सताना चाहिए, न कष्ट पहुचाना चाहिए, यही धर्म शुद्ध है।

६—सूत्रकृताग मे फरमाते हैं कि जैन साधु मास-मदिरा का त्याग करे। जो माँस मदिरा का सेवन करते हैं वे अज्ञानता मे पाप करते हैं, उनका मन अपवित्र है और वचन भी झूठा है (सूत्रकृतांग अ०-२)।

७—उत्तराध्ययन सूत्र मे-मदिरा पान, माँस भक्षण तथा दुराचरण आदि मे नारकी की आयु का बन्ध होता है। हिंसक यज्ञ करने वाले, झूठ बोलने वाले, कपटी, चुगलखोर, शठ तथा माँस-मदिरा भक्षी जो

होते है वे समझते हैं कि यही जीवन का आनन्द है, परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि जिसे मॉस अथवा मॉस का टुकड़ा प्रिय है वह भी उसी प्रकार पकाया व खाया जाएगा।

८—अनुयोगद्वार सूत्र मे :—जिस प्रकार तुझे दुःख अच्छा नही लगता, उसी प्रकार किसी जीव को भी दुःख अच्छा नही लगता। यह जान कर जो न स्वयं किसी को मारता है और न मारने की प्रेरणा ही करता है, सभी के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।

९—दशवैकालिक सूत्र में—शराब छोड़ दे, मॉस छोड़ दे, विकृति (रस-पुष्ट) भोजन का त्याग कर। वार-वार कायोत्सर्ग (ध्यान) तथा स्वाध्याय योग मे लीन हो जा।

१०—ज्ञानी होने का सार यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिसा न करे। अहिंसा का सिद्धान्त ही सर्वोपरि है—मात्र इतना ही विज्ञान है। सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई भी नही चाहता। सीलिए निर्ग्रथ (जैन मुनि) घोर प्राणिवध का सर्वथा त्याग करे।

११—जो औषध में मॉस खिलावे या सम्मति दे वह नरक में जाता है।

१२—मॉस दुर्गन्ध वाला है, वीभत्स है, शरीर के मलों से बना हुआ है, अपवित्र है और नरक में ले जाने वाला है। अतः त्याज्य है।

१३—मॉस में क्षण भर में ही अनन्त सूक्ष्म कीटाणुओं का जन्म और विनाश होता है। वह नरक के मार्ग मे ले जाने वाला भोजन है। कौन बुद्धिमान् ऐसे मांस को खा सकता है ?

१४—मॉस कच्चा हो या पकाया हुआ उसके प्रत्येक टुकड़े में निर्बाध रूप से निगोद के जीव उत्पन्न होते है।

१५—आचार्य रत्नशेखर सूरि—संबोध सप्ततिका में स्पष्ट लिखते है :—कि आगम में मॉस मदिरा आदि को जीवों का उत्पत्ति स्थान बतलाया है :—

"आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं ॥ १ ॥

मज्जे मद्दुम्मि मसम्मि पावणीयम्मि चउत्यए
उप्पज्जति अणता तव्वण्णा तत्य जतुणो ॥ २ ॥
(श्लोक ६६, ६७)

अर्थात्—"कच्चे, पक्के और अग्नि मे पकाये हुए मांस की प्रत्येक अवस्था मे अनन्त निगोद जीवो की उत्पत्ति होती रहती है। मदिरा, मधु, मास और मक्खन मे मद्य, मधु, मांस और मक्खन के रग के अनन्त जीवो की उत्पत्ति होती है।" इस प्रकार माम आदि खाने मे अनन्त जीवो का नाश होता है अतएव इनका सेवन करना दोषपूर्ण है।

१६—आज के विज्ञान ने भी इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि मास अनगिनत जीव कीटाणुओ का पु ज है और उसमे प्रतिक्षण कृमि समान जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

१७—भगवान महावीर आचाराग सूत्र मे फरमाते है —

से बेमि —जे अईया जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहता भगवतो ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासति, एव पण्णविंति, एव परूविति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघितव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस-धम्मे सुद्धे णिइए, सासए, समिच्च लोय खेयण्णहिं पवेइए त जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदडेसु वा, अणुवरयदडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, सजोगएसु वा, असजोगएसु वा, तच्च चेय, तहा चेय अस्सि चेय पवुच्चई। (आचारागे)

भावार्थ —वे (भगवान् महावीर) कहते हैं कि भूतकाल मे जो तीर्थंकर हो चुके हैं, अब जो विद्यमान है और जो अनागत काल मे होगे, वे सब इस तरह कहते हैं, बोलते हैं, दूसरो को समझाते हैं तथा प्ररूपणा करते हैं—किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो को नही मारना चाहिए। उनपर शासन (दबाव) नही डालना चाहिए, उन्हें दास की तरह अधिकार मे नही रखना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार का सताप नही देना चाहिए। तथा उनके प्राणो को नही लूटना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है,

शाश्वत है। संसार के दु.खों को जानने वाले अरिहंत-भगवंतों ने संयम मे उद्यत और अनुद्यत, उपस्थित और अनुपस्थित, मुनियों और गृहस्थों, रागियों और त्यागियों, भोगियों और योगियों को समभाव में यह उपदेश दिया है। यही एक सत्य है, यही तथारूप है और ऐसा धर्म इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे ही कहा है।

तीर्थंकर भगवन्तों ने मांस के समान अण्डे खाने का भी निषेध किया है क्योंकि यह त्रस जीव का कलेवर है। जिस प्रकार मांस मछली मदिरा आदि अभक्ष्य होने से जैनागमो मे उनके भक्षण का सर्वथा निषेध है उसी प्रकार अण्डा भी सचित (त्रस जीव वाला) होने से अभक्ष्य है। जैनागमों में कहा है:—

"से बेमि, संति मे तसा पाणा तं जहा—अंडया, पोतया, जराउया सया संसेयया, समुच्छिमा उब्भियया, उववातिया एस संसारे त्ति पवुच्चति मदंस्स अविजाणतो।

(आ० अ० १ उ० ६)

भगवान् फरमाते है कि इस संसार में 'आठ प्रकार के त्रस जीव होते है जैसे कि:—[1]अण्डज, [2]पोतज, [3]जरायुज, [4]रसज, [5]संस्वेदज, [6]संमुर्च्छिम, [7]उदभिज्जक और [8]औपपातिक।

इस पाठ से स्पष्ट है कि कुछ त्रस जीव अण्डे से उत्पन्न होते है इसलिए अण्डा भी सजीव सिद्ध हो जाता है।

आज के विज्ञान की यह मान्यता है कि अण्डा गर्भ से निकलते समय निर्जीव होता है। मादा जब ऊपर बैठकर उसे सेती है तो गर्मी के द्वारा उसमें जीव उत्पन्न हो जाता है। विज्ञान की यह युक्ति उचित प्रतीत नही होती। मादा के अण्डे पर बैठने से और गर्मी पहुचाने से यदि अण्डे में जीव उत्पन्न होता है तो एक आटे की गोली अण्डे जैसी बनाकर मादा के नीचे रखने से खूब गर्मी पहुंचाने पर उसमें से बच्चा निकलना चाहिये क्योंकि यदि सेते समय गर्मी पहुचाने से ही अण्डे में से बच्चा निकलता

है तो आटे की गोली मे से भी अवश्य निकलना चाहिए परन्तु ऐसा नही होता क्योकि आटे की गोली मे पहले जीव नही होता।

अण्डा गभ मे बनता है और जीव भी गभ मे पैदा होता है। वाहर आकर केवल परिपक्व होता है और पूण होता है। यहा यह वात समझ लेनी चाहिए कि अण्डे भी दो प्रकार के होते है [1]गर्भज, [2]सम्मूर्च्छिम। मुर्गी आदि के अण्डे गर्भ मे उत्प न है सलिए अण्डे से निकलने वाले जीव को द्विज कहते हैं। द्विज का अर्थ है दो बार जन्म लेना। एक ज म गर्भ मे आकर अण्डे के रूप मे उत्पन्न होता है दूसरा अण्डे के गर्भ से वाहर आने के पश्चात् उस मे से वच्चे के रूप मे निकलना दूसरा जन्म है। इस प्रकार अण्डा सजीव सिद्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि गभज अण्डा दो प्रकार का होता है (१) जिस अण्डे मे से बच्चा बन कर निकलता है (२) जिस अण्डे मे से वच्चा बन कर नही निकलता। अत वे कहते हैं कि जिस अडे मे से बच्चा बन कर निकलता है उसमे जीवनी शक्ति है और जिसमे से वच्चा बन कर नही निकलता उसमे जीवनी शक्ति नही है परन्तु उनकी यह धारणा भी ठीक प्रतीत नही होती। वास्तव मे दोनो मे जीवनी शक्ति है। जिस प्रकार वध्या स्त्री मे जनन क्रिया नही होती इसका अर्थ यह नही कि उसकी योनि निर्जीव है अर्थात् उसकी योनि सजीव होने पर भी उसमे जनन क्रिया का अभाव है और अवध्या स्त्री मे जनन शक्ति होने पर जनन क्रिया होती है वैसे ही अवध्या अण्डो मे मे वच्चे निकलते हैं और वध्या अण्डो मे से वच्चे नही निवलते। अत अण्डे आदि का भक्षण भी उचित नही है इसलिए भगवान् महावीर आदि सभी तीर्थकरो ने अण्डे को भी अभक्ष्य मान कर इसका प्रयोग उचित नही माना और इसीलिए जैन-अहिंसक लोग आज भी अण्डे का प्रयोग नही करते।

जैनागम विपाक सूत्र के तीसरे अध्ययन "अभग्गसेन" मे वर्णन है कि एक वार श्रमण भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर

भिक्षा के लिए निकले। उन्होने मार्ग में किसी अपराधी को देखा, जिसे राजपुरुषो ने घेरा हुआ था। उसे वुरी तरह पीटा जा रहा था। उसे उसी का मास काट-काट कर खिलाया जा रहा था। उस की दुर्दशा को देखकर इन्द्रभूति गौतम कर्म-फल का विचार करने लगे और उनका हृदय करुणा से द्रवित होगया। वापिस लौट कर उन्होंने भगवान् महावीर से पूछा, भन्ते ! "जिस अपराधी को मैंने राजपथ पर देखा है वह अपने पहले जन्म मे कौन था ! उसने अपने पिछले जन्म में क्या वुरे कर्म किये थे जिससे उसकी यह दुर्दशा हो रही है ?"

भगवान् वोले—"गौतम ! यह अपने पूर्व जन्म में अण्डों का व्यापारी था। स्वयं भी मास-अण्डे आदि भक्षण करता था इसका नाम निह्नक था और अण्डों के व्यापार के कारण यह निह्नक अण्ड वनिये के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसने इस काम के लिए नौकर रखे हुए थे, जो मोरनी मुर्गी, कबूतरी आदि के अण्डे खरीद कर लाते और वाजार मे जाकर वेचा करते थे। वह स्वयं भी अण्डों को भूनता, तलता और खाता था। शराव पीकर नशे में चूर रहता था। भगवान् वोले-हे गौतम ! यह इतना पापी था जिसके फलस्वरूप अपने जीवन के दिन पूरे कर वह तीसरी नरक मे जाकर पैदा हुआ। वहाँ दारुण दुःख भोग कर यहां विजय चोर के घर जन्मा है। इस जन्म में भी अपने किये का फल भोग रहा है।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से भगवान् महावीर के आदर्श अहिंसामय जीवन का और उनके द्वारा प्रदत्त अहिंसा के उपदेश का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण भगवान् महावीर ने अपने इन विचारों को स्वयं अपने आचरण मे उतारा और फिर मानव समाज को प्राणी मात्र की अहिंसा का अपनी वाणी और करणी द्वारा प्रभावोत्पादक उपदेश दिया। इसी के परिणाम स्वरूप आज भी जैन अहिंसा विश्व मे अलौकिक स्थान रखती है।

तथा यह भी स्पष्ट है कि मांस, अण्डे, मत्स्य, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने से न तो मोक्ष की प्राप्ति ही हो सकती है और न ही जीव सद्गति प्राप्त कर सकता है। यह तो महान् अनर्थकारी है, बहुत दोषो वाला है, इसे खाने वाला व्यक्ति मर कर नरक मे नारकों का जन्म लेकर घोर यातनाओं को भोगता है।

जैन मांसाहार से सर्वथा अलिप्त

इस उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण भगवान् महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। उनके आचार और विचार यहाँ तक पवित्र थे कि जब वे अजीव पदार्थों का भी इस्तेमाल (उपयोग) करते थे तो इस बात की पूरी सावधानी रखते थे—"मेरे द्वारा किसी छोटे से छोटे प्राणी को भी कष्ट न पहुंचे।"

इस विश्वविभूति ने जगत के प्राणियों को जिस अहिंसा के महान् पवित्र सिद्धान्त का उपदेश दिया था उसका आचरण उनके रोम-रोम में था। अर्थात् जो कुछ वे जगत के प्राणियों को आचरण करने के लिये उपदेश देते थे उसको वे स्वयं भी पालन करते थे। उनके रोम-रोम और शब्द-शब्द से विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति वात्सल्य भाव प्रगट होता था। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद सर्वप्रथम यही उपदेश दिया था—"मा हण-मा हण (मत मारो-मत मारो)" अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो और इसी उपदेश के अनुसार ही जो उनके धर्म-मार्ग को स्वीकार करता था, उसे वे सर्वप्रथम जीव-हिंसा का त्याग रूप "प्राणातिपात विरमण व्रत" धारण कराते थे। फिर वह चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक। इस का विवेचन हम पहले कर आये हैं।

श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा के विषय में भारत के महान् धाराशास्त्री सर अल्लाड़ी कृष्णा स्वामी अय्यर ने एक तार्किक दलील दी थी। उन्होंने कहा था कि मैं धारा शास्त्र का अभ्यासी होने से धार्मिक तत्त्वज्ञान मे विशेष अध्ययन का लाभ नही उठा सका।

परन्तु Logically (तात्विक ढग से) कहना पडता है कि मृग और गाय आदि प्राणी जो तृण भक्षण से अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे यदि मास भक्षण के विमुख बनें तो उसमे विशेषता ही क्या है ? तत्त्व तो वहाँ है कि सिह का बच्चा मास का विरोध करे। यानी उनके कहने का अभिप्राय यह है कि धन-सोना, ऋद्धि-सिद्धि और ऐश्वय के झूले मे झूला हुआ और खूनी सस्कृति से भरे हुए क्षत्रिय कुल के वातावरण मे चमकती हुई तलवार के तेज मे तल्लीन होता हुआ बालक, कुल परम्परा की कुल देवी समान खूनी खजर के विरुद्ध महान् आन्दोलन करने के लिये सारी ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति को मिट्टी के समान मान कर और भोग को रोग तुल्य समझ कर योग की भूमिका मे खूनी वातावरण को शान्तिमय और अहिंसक बनाने के लिए वनखण्ड और पवतो की कदराओ मे निस्पृही बन कर ज्ञातपुत्र वधमान (महावीर) सारा जीवन व्यतीत करे। मात्र दिनो तक ही नही किन्तु महीनो एव वर्षो तक भूपति दीर्घ-तपस्वी बन कर भटकता फिरे। साढे बारह वर्ष की घोर सयम यात्रा मे अगुलियो पर गिने जाने वाले नाम मात्र के दिनो मे पारणे रूखे-सूखे टुकडो से करे और सारा काल अहिंसा के आदश सिद्धान्त के पालन करने और कराने मे निमग्न रहे। सयम की सर्वोत्कृष्ट साधना करने मे तीव्रातितीव्र तप की ज्वालाओ मे अपनी आत्मा को कचन समान निर्दोष बनाने मे तल्लीन रहे। उन की इस घोर तपस्या-सयम आदि अमूल्य जीवन-यात्रा के पर्दे मे बडा भारी रहस्य था कि जिस मे मात्र मानव-समाज ही का नहीं, परन्तु प्राणी मात्र के परम श्रेय का लक्ष्य था।

मुझ तो यह तार्किक अनुमान बडा ही सुन्दर प्रतीत होता है। दया के परम्परागत सस्कारो वाले कुल मे जन्म लेने वाला व्यक्ति दया का पालन करे और उसकी पुष्टि के लिये बाते करे यह तो स्वाभाविक है तथा भोग सामग्री के अभाव मे वैराग्य के वातावरण का असर अनेको पर होना सभव है किन्तु राजकुल की ऋद्धि और ऐश्वय के सागर में से

वाहर कूद कर त्याग भूमि पर आने वाले तो कोई अलौकिक व्यक्ति ही नजर आते है।

भगवान् महावीर ने जो उपसर्ग तथा परिपह सहन किये उनका वर्णन करते हुए हृदय काँप उठता है। धन्य है उस महाप्रभु महावीर को जिन के हृदय में मित्रों के श्रेय के समान ही शत्रुओं के श्रेय का भी स्थान था।

जैनागमों मे कहा है कि वे मात्र क्षमा में ही वीर न थे किन्तु दानवीर दयावीर, शीलवीर, त्यागवीर, तपोवीर, धर्मवीर, कर्मवीर और ज्ञानवीर आदि सर्व गुणों में वीर शिरोमणि होने से उनका वर्धमान नाम गौन होकर महावीर नाम विख्यात हुआ।

भगवान ने कहा किसी देश राष्ट्र और जगत को जीत कर वश में करने वाला सच्चा विजेता नहीं, किन्तु जिस ने अपनी आत्मा को जीता है (self conqueror) वही सच्चा विजेता है।

उनका दर्शाया हुआ अहिंसावाद, कर्मवाद, तत्त्ववाद, स्याद्वाद, सृष्टि-वाद, आतमवाद, परमाणुवाद, और विज्ञानवाद इत्यादि त्येक विषय इतना विशाल और गम्भीर है जिनका अभ्यास करने से उनकी सर्वज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है।

उन्होंने सर्वसाधारण जनता को मानव संस्कृति विज्ञान (Science of Human culture) के विकाश की पराकाष्ठा पर पहुंचने के लिये मुक्ति महातीर्थ का राजमार्ग (Royal road) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र (Right faith, Right knowledge and Right conduct) रूप अपूर्व साधन द्वारा पद्धतिसर दर्शाया। इसलिये वे तीर्थंकर कहलाये।

संसार में तीर्थंकर पद सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि और सर्वपूज्य होने के कारण उस काल में बौद्धधर्मादि भिन्न-भिन्न धर्मो के संस्थापक और संचालक अपने आपको तीर्थंकर कहलाने में उत्सुकता पूर्वक प्रतिस्पर्द्धा की दौड़धूम मचा रहे थे। अर्थात् उस समय मत-प्रतिस्पर्द्धा (Religious rivalry) को होड़ा-होड़ मच रही थी। जैसे कि आज सत्ता और प्रसिद्धि

(Power and popularity) प्राप्त करने के लिये होड मच रही है। परन्तु कहावत है कि "All that glitters is not gold) (प्रत्येक चमकने वाली वस्तु सोना नही होती) । इस उक्ति के अनुसार श्रुति, युक्ति और अनुभूति द्वारा सुज्ञ और विज्ञजन (People of Culture and common sense) के लिये यह समझना कोई कठिन बात नही है कि तीर्थंकर होने के लिये जिस योग्यता का होना आवश्यक है वह भगवान् महावीर के सिवाय उनके समकालीन अन्य किसी भी र्म प्रवतक मे नही थी ।

भगवान् महावीर के परम पवित्र प्रवचन का आधार मन कल्पना और अनुमान की भूमिका पर तो था ही नही। उनका तत्त्वज्ञान वास्तविकता पर अवलम्बित है। ऐसा कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि उनका पदार्थ–विज्ञान और परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान के (Atomic and moleculer—theories) अणुवाद की मान्यता से तो क्या परन्तु डाक्टर एस्टीन, एडिंगटन, स्पेन्सर, डेल्टन और न्युटन की (theories) मान्यताओ को भी मात करता है। भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक विद्वानो ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तो की भूरि–भूरि प्रशसा की है।

जर्मन विद्वान डा० हर्मन जेकोबी कहते हैं कि —

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct from and independent of all others, and that, therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in India

अर्थात्—अत मे मुझे अपना निश्चित विचार प्रगट करने दो, मै कहूगा कि जैनधम के सिद्धात मूल सिद्धात हैं। वह धर्म स्वतन्त्र और अन्य धर्मों से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धार्मिक जीवन का अभ्यास करने के लिये यह बहुत उत्तम है।

ऐसे सर्वोच्च आचरण तथा उपदेश करने वाले महान तत्त्वज्ञानी,

करुणा के प्रत्यक्ष अवतार, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वयं मांसाहार कैसे कर सकते थे ? कदापि नही कर सकते थे ।

इतिहास इस वात का साक्षी है कि अन्य मांस-मत्स्यभक्षी बौद्ध, वैदिक आदि धर्मों के समान जैनधर्म भारत की सीमाओं को न लांघ सका। इसका मुख्य कारण यही है कि यह मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य भक्षण का सदा से निषेध करता आया है। इसीलिये मांसाहारी देशो में इसका प्रसार न हो पाया।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि न तो भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकर अथवा निर्ग्रंथ श्रमण मांसाहार ग्रहण कर सकते हैं और न ही श्रमणोपासक गृहस्थ (श्रावक—श्राविकाएं) माँस को खा अथवा पका सकते हैं। यही कारण है कि वर्त्तमान जैन समाज भी कट्टर निरामिषाहारी है तथा वे सराकादि जातियाँ भी जो सैकड़ों वर्षो से जैनधर्म को भूल चुकी हैं उनके ऊपर भी आज पर्यन्त जैन-तीर्थंकरों की अहिंसा की इतनी गहरी छाप है कि वे आज भी कट्टर निरामिषाहारी रहे हैं। मात्र इतना ही नही किन्तु जो लोग जैन समाज में होते हुए किसी भी प्रकार का व्रत ग्रहण नहीं करते वे भी मत्स्य—मांस जैसे अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नही करते।

तथागत गौतमबुद्ध, वौद्धभिक्षु तथा वौद्धगृहस्थ खुलमखुला मांसाहार करते थे इसी का परिणाम है कि आज भी सारा वौद्ध जगत् सर्व भक्षी है।

श्री धर्मानन्द कौशाम्वी ने "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक में जिन जैन सूत्रों को लेकर यह सिद्ध करने की हास्यास्पद चेष्टा की है कि "भगवान् महावीर और उनके अनुयायी श्रमण मांसाहार करते थे"। उनके किए हुए अर्थ के साथ भगवान् महावीर की जीवनचर्या तथा उपदेशो (आचार-विचार) से विलकुल मेल नही खाता। इस से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा किया हुआ इन सूत्रों का अर्थ ठीक नही है परन्तु इन का दूसरा ही अर्थ होना चाहिये।

वास्तव मे वात यह है कि अध्यापक कौशाम्वी वौद्ध दर्शन के विद्वान

थे इसलिये तथागत बुद्ध के प्रति उन्हे अगाध श्रद्धा होना स्वाभाविक था। उन्होने अपनी पुस्तक "भगवान् बुद्ध" मे यह बात सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया कि गौतम बुद्ध मासाहारी नही थे। यह भी उल्लेख किया कि उस समय जैनादि उन पर मासाहार का आक्षेप भी किया करते थे।

परन्तु जब कौशाम्बी जी तथागत बुद्ध और उसके भिक्षु सघ को निरामिषभोजी सिद्ध करने मे असमर्थ रहे तब उन्होने भगवान् महावीर और उनके श्रमण सघ पर भी मासाहार का दोष लगाने की चेष्टा की। जैनागमो के सूत्रपाठो का विपरीतार्थ कर इस बात को सिद्ध करने की जो उन्होने अनाधिकार चेष्टा की है उसके विषय मे हम आगे चल कर विवेचन करेंगे। हमारी धारणा है कि उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि तथागत गौतम बुद्ध एव उनके भिक्षु मासाहारी होने से जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर, उनके निर्ग्रंथ श्रमणो, व्रतधारी श्रावको तथा अव्रति गृहस्थो से भी कही हीन न गिने जावे, इसलिए उन्होने निग्रन्थ परम्परा पर ऐसी अनुचित आक्षेप करने की चेष्टा की है। एक अग्रेज लेखक ने ठीक ही कहा है कि "शारीरिक सन्तान (पुत्र-पुत्री आदि) से भी मानसिक सन्तान (अपने विचारो) पर मनुष्य को अधिक प्रेम होता है।" अपने अभिप्राय पर अयोग्य अनुराग, एकान्त आग्रह मनुष्य को सत्य की पहिचान करने मे बडी बाधा उत्पन्न करते है।

साराश यह है कि कौशाम्बी जी ने तथागत गौतमबुद्ध के मासाहार के दोष को ढाकने के लिये ही यह असफल प्रयत्न किया है।

बुद्ध ने केवल अहिंसा का उपदेश दिया था परन्तु भगवान महावीर ने अहिंसा को मूल सिद्धात का दर्जा देकर चारित्र व्रत मे सर्वप्रथम सम्मिलित किया। बौद्ध मत की अहिंसा थोथा उपदेश बन कर ही रह गयी। क्योंकि तथागत गौतम बुद्ध उसे अपने आचार और व्यवहार मे न उतार सके। यदि उन्होने अपने आचार और व्यवहार मे उतारा होता तो बौद्ध जगत् कदापि मासाहारी न होता। इस से स्पष्ट है कि वे अहिंसा धर्म के मर्म को समझ ही न पाये। भगवान् महावीर ने अपने

आचरण और उपदेश से जगत के सामने अहिंसा का इतना सुन्दर स्वरूप रखा कि आज भी जैन समाज पूर्ववत कट्टर निरामिषाहारी है। उन्होंने फरमाया कि किसी के असतित्व को न मिटाओ। जिस प्रकार प्राणिहिंसा दुर्गति का कारण है उसी प्रकार मांस भक्षण भी दुर्गति का कारण है। आप ने ऐसे धर्म को धर्म कहा जो सब प्राणियों का रक्षक हो और ऐसे धर्म को निर्वाण का राजमार्ग कहा।

१. प्रो० डी० सी० शर्मा अपनी पुस्तक 'हिन्दुइजम में लिखते है :—

Buddhism only teaches the doctrine of the sanctity of animal life, but Jainism not only taught it, but also put it into practice. A Buddhist may not kill or do injury to any creature himself, but apparently he is allowed to purchase meat from a butcher. A Jain on the other hand is bound to be a strict Vegetarian."

अर्थात्—बुद्ध धर्म केवल पशु के जीवन की रक्षा का ही उपदेश देता है। जैन धर्म ने केवल उपदेश ही नहीं दिया परन्तु उपदेश के साथ आचरण में भी उतारा है। एक बौद्ध किसी पशु का स्वयं वध अथवा हिंसा चाहे न करे परन्तु उसे निःसंकोच कसाई की दुकान से मांस खरीदने की आज्ञा है। दूसरी ओर एक जैन निश्चयरूपेण दृढ़ शाकाहारी है।

मांस भक्षण से मात्र जैन ही अलिप्त रहे हैं

प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ० "तिरुकुरल" पुस्तक पृ० ३०-३१ में लिखते हैं कि :—

Meat eating, drinking wine and sexual intercourse, which are condemned by the *Jains* are accepted by the Kapalikas as a fundamental practice of their faith.

The *Buddhist* rejected the authority of the *Vedas*, yet they did not give up meat eating. *Buddhist* bhikshus and the laymen, though they observed the principle of

Ahimsa, were all meat eaters They observed the principle of Non-violence only to this extent that they did not kill any animal with their own hands They have no objection to purchase meat from the butchers so long as they do not themselves kill Even while *Gautama Buddha* was alive, this practice was prevalent This we learn from the Buddhist Scriptures When that is the case with the Buddhist Bhikshus, the Buddhist laymen have no restriction in eating meat If we are to mention a distinctive Characteristic of the *Jains*, we have to say that it is their strict Vegetarian diet This distinguishes the *Jains* from Others

From the *Vedic Dharam Shastras of* Manu, Bodhayana and the later law-makers belonging to Vedic schools, we notice the following, on the chapter Madhuparka, Bodhayana gives a list of 25 or 26 animals that are to be killed

Another prominent fact about the *Dharma Shastras af Vedic* school is the place given to agriculture in the scheme Agriculture is considered to be the meanest profession and only the *Sudras* of the fourth *Varna* are fit to be engaged in thus profession It is beneath the dignity of the *Dvijas* to engage themselves in agricultural occupation Certainly the priests of the *higher Varna* cannot think of touching the plough

अर्थात् —जिन मास भक्षण, मदिरापान तथा व्यभिचार का जैनो ने निद्य मान कर त्याग किया था, उन्हें कापालिको ने श्रद्धा से मूल सिद्धात रूप से स्वीकार किया था। यानी उन्होंने मासाहार, मदिरापान तथा व्यभिचार सेवन को धर्म रूप स्वीकार किया था।

बौद्धों ने वेदो को तो प्रामाणिक नही माना किन्तु मास भक्षण का त्याग नही किया। बौद्ध भिक्षु तथा बौद्ध गृहस्थ अहिंसा के सिद्धान्त

को स्वीकार करते हुए भी मासाहारी थे। वे अहिसा को इस रूप से मानते थे कि पशुओं की स्वय हत्या नही करना। परन्तु उन्हें कसाई के वहां से ऐसा मास खरीदने में कोई आपत्ति नही थी, जिसे उन्होंने स्वयं न मारा हो ; वौद्ध ग्रथों से हम ऐसा जान सकते हैं। जव तथागत गौतम वुद्ध स्वय विद्यमान थे तव भी यह प्रथा प्रचलित थी। जव वौद्ध भिक्षु इस प्रकार (वे रोक-टोक) मांसाहार करते थे तव वौद्ध गृहस्थों को भी मांसभक्षण का कोई प्रतिवन्ध नही था। यदि वौद्धों से जैनों की कोई मौलिक विशेपता खोजने जावे तो हमें यह नि.संदेह कहना पड़ेगा कि जैन कट्टर शाकाहारी है।

हम वैदिक धर्मानुयायी मनु, वोधायन तथा उनके वाद के वैदिक सिद्धान्त निर्माताओं के धर्मशास्त्रों मे से नीचे लिखे विचार पाते है :—

मधुपर्क में वोधायन ने २५ या २६ ऐसे पशुओं की सूची दी है, जो कि (मांसाहार के लिये) वध करने योग्य हैं।

वैदिक धर्मशास्त्रों में एक और विशेप वात यह भी पायी जाती है कि उन्होंने खेती-वाड़ी को एक निकृष्ट कार्य मान कर उसे चौथे वर्ण यानी शूद्रों के करने के योग्य वतलाया है। द्विजों ने खेती-वाड़ी के धंधे को स्वयं करना अपनी हीनता माना है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु ऊंचे वर्णो के धर्मप्रचारकों ने तो हल को छूने तक का विचार मात्र करना भी नितान्त अनुचित माना है।

साराश यह है कि वैदिक धर्मानुयायी मांसभक्षण को उत्तम मानते थे तथा खेती-वाड़ी को निकृष्ट। जैनो ने मांस भक्षण को एक दम त्याज्य माना और खेती-वाड़ी को जैन श्रमणोपासकों (श्रावको) के लिये त्याज्य नही माना। उपासकदशांग जैनागम मे भगवान् महावीर के जिन दस श्रावकों का चरित्र चित्रण किया गया है, उनका मुख्य व्यवसाय प्रायः खेती-वाड़ी ही था।

तथागत गौतम बुद्ध द्वारा निर्ग्रंथ-चर्या में मांस-भक्षण निषेध

हम लिख चुके हैं कि बुद्ध के समय में सब से बड़े श्रमण संघ छः थे। इन सब में निर्ग्रन्थों (जैनों) का नाम ही सर्वप्रथम आता है। वे राजगृह में अथवा उसके आस-पास के क्षेत्रों में अधिक संख्या में निवास करते थे।

गौतम बुद्ध संसार छोड़कर निर्वाण मार्ग जानने के लिये योगियों के शिष्य बने। बौद्ध ग्रंथ "ललितविस्तर" में लिखा है कि बोधिसत्व (गौतम बुद्ध) पहले वैशाली गये और वहां आलार कालाम के शिष्य बने। वे योगी बड़े ज्ञानी थे और जाति के ब्राह्मण थे। बुद्ध ने उनके पास से योग की बातें सीखीं, तप भी किया, किन्तु उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तब बुद्ध ने उन्हें छोड़ दिया। बौद्ध ग्रंथ "मज्झिमनिकाय" के "महासिंहनाद सुत्त" में बुद्ध की तपश्चर्या का वर्णन है। उन्होंने अनेक प्रकार की तपश्चर्याएं कीं और छोड़ीं। अंत में बोधिसत्व ने उस समय के श्रमण व्यवहार के अनुसार तीव्र तपश्चर्या करने का निश्चय किया और प्रसिद्ध श्रमण साधकों का तत्वज्ञान जान लेने के उद्देश्य से राजगृह गये। वहां सब श्रमण सम्प्रदायों में [illegible] मात्रा में तपस्वी [illegible] ने उन्हें ऐसा लगा कि उन्हें भी वैसी ही तपश्चर्या करनी चाहिये। इसलिये "सुत्तनिपात" के "पबज्जा सुत्त" की अन्तिम गाथा में बुद्ध स्वयं कहते हैं कि अब मैं तपश्चर्या के लिये जा रहा हूँ। उस समय राजगृह के पास [illegible] पहाड़ियों पर निगंठ (जैन) श्रमण तपस्या करते

थे ऐसा उल्लेख जैनागमो में तथा वौद्ध पिटकों में अनेक स्थलों पर मिलता है।

निर्ग्रंथ संप्रदाय के ऐतिहासिक नियामिक तेईसवे तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ जी थे। इनका निर्वाण बुद्ध के जन्म से पूर्व १९३ वर्ष में हुआ था। उनकी शिष्यपरम्परा के निर्ग्रंथों का अस्तित्व उस समय राजगृह में सर्वाधिक था।

तथागत गौतम बुद्ध, निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) से प्रथम पैदा हुए और प्रथम ही परिनिर्वाण प्राप्त किया। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से अव सिद्ध हो चुकी है। भगवान महावीर तथा गौतम बुद्ध समकालीन थे तथा उन दोनों के अपने-अपने धर्म-प्रचार का क्षेत्र एक ही रहा। कई वर्षो तक एक दूसरे से मिले विना वे दोनों अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे।

बुद्ध ने निर्ग्रंथों के तप:प्रधान आचारों की अवलेहना की है; ऐसा वर्णन बौद्ध पिटकों में पाया जाता है। परन्तु बुद्ध ने खुद अपनी बुद्धत्वप्राप्ति के पहले की तपश्चर्या और चर्या का जो वर्णन किया है उसके साथ तत्कालीन निर्ग्रंथ आचार का जब हम मिलान करते हैं तथा कपिलवस्तु के निर्ग्रंथ श्रावक "वप्प शाक्य", जो कि भगवान पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथ श्रमणों का उपासक था, उस का निर्देश सामने रखते हैं (सुत्त की अट्ठकथा में वप्प को गौतम बुद्ध का चाचा कहा है) एवं बौद्ध पिटकों में पाये जाने वाले खास आचार और तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शव्द जो केवल निर्ग्रंथ प्रवचन में ही पाये जाते हैं इन सव पर विचार करते है तो ऐसा मानने में कोई सन्देह नहीं रहता कि "तथागत गौतम बुद्ध" ने भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपनी अन्तिम पुस्तक "पार्श्वनाथा चा चातुर्याम धर्म" (पृष्ठ २४, २६) में ऐसी ही मान्यता सूचित की है।

गौतम बुद्ध "सारिपुत्त" से कहते हैं कि "मैं बताता हूँ कि मेरी तपस्विता कैसी थी" —

"मैं नगा रहता था। लौकिक अचारो का पालन नही करता था। हथेली पर भिक्षा ले कर खाता था। अगर कोई कहता कि 'भदन्त', इधर आइये' तो मैं नही सुनता था। बैठे हुए स्थान पर ला कर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमत्रण को मैं स्वीकार नहीं करता था। जिस बर्तन मे अन्न पकाया गया हो उसी बर्तन मे अगर वह अन्न लाकर मुझे दिया जाता तो मैं उसे ग्रहण नही करता था। देहरी या डण्डे के उस पार रह कर दी गयी भिक्षा को मैं नही लेता था। ओखली मे से अगर कोई खाने का पदार्थ ला कर दिया जाता तो मैं उसे ग्रहण नही करता था। दो व्यक्ति भोजन कर रहे हो और उन मे से एक उठ कर भिक्षा दे तो मैं उसे ग्रहण नही करता था। गर्भिणी, बच्चे को स्तन-पान कराने वाली या पुरुष के साथ एकान्त सेवन करने वाली स्त्री से भी म भिक्षा नही लेता था। मेले या तीर्थ-यात्रा मे तैयार किये गये अन्न की भिक्षा मैं नही लेता था। जहाँ कुत्ता खडा हो या मक्खियो की भीड और भिनभिनाहट हो वहा भिक्षा नही लेता था। मत्स्य, मांस, सुरा आदि वस्तुएँ नहीं लेता था। एक ही घर से भिक्षा लेकर एक ही ग्रास पर मैं रहता था। या दो घरो से भिक्षा ले कर दो ग्रासो पर रहता था और इस प्रकार सात दिन तक बढाते हुए सात घरो से भिक्षा ले कर सात ग्रास खा कर म रह जाता था। मैं एक कलछा भर अन्न भी लेता था और इस प्रकार सात दिन तक सात कलछे अन्न ले कर उस पर निर्वाह करता था। एक दिन छोड कर यानी हर तीसरे दिन भोजन करता था। इस प्रकार उपवासो की सख्या बढाते-बढाते सप्ताह मे एक बार या पखवाडे मे एक बार भोजन किया करता था।

"मैं दाढ़ी मूछें और बाल उखाड डालता था। मैं खडा रह कर तपस्या करता था अकड बैठ कर तपस्या करता था।

"अनेक वर्षो की धूल से मेरे शरीर पर मैल की परतें जम गयी थी।

जैसे कोई तिन्दुक वृक्ष का तना अनेक वर्षों की धूल से भर जाता है, मेरी देह वैसी हो गयी थी। पर मुझे ऐसा नही लगता था कि धूल की परते में स्वयं झाड़ लूं या दूसरा कोई व्यक्ति मुझे हाथ से निकाल दे।

"मैं बड़ी सावधानी से आता जाता था। पानी की बूंदो पर भी मेरी तीव्र दया रहती थी। ऐसी विषम अवस्था में फंसे हुए सूक्ष्म प्राणी का भी नाश मेरे हाथों से न हो जावे इसके लिए मैं बहुत सावधानी रखता था। ऐसी मेरी जुगुप्सा (हिंसा के प्रति अरुचि) थी।

"मैं किसी भयावने जंगल में रहता था। जो कोई सांसारिक प्राणी उस अरण्य में प्रवेश करता, उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे, वह इतना भयंकर होता था। जाड़ों में भयानक हिमपात होने के समय में खुली जगह में रहता था और दिन में जंगल में घुस जाता था। गर्मी के मौसम के अन्तिम महीने में दिन के समय खुली जगह में रहता था और रात को जगल में चला जाता था।" (ध० को० कृत भगवान् बुद्ध पृष्ठ ६८–७१)

इस तपस्या के बारे में गौतम बुद्ध स्वयं कहते हैं—"मेरा शरीर (दुर्बलता की) चरम सीमा तक पहुंच गया था। जैसे अस्सी वर्ष वाले की गांठे, वैसे ही मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हो गये थे। जैसे ऊंट के पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे सूओं की (ऊंची-नीची) पांती वैसे ही पीठ के कांटे हो गये थे। जैसे शाल की पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढी हो जाती हैं, वैसी ही मेरी पांसुलियां हो गयी थी। जैसे गहरे कुएं में तारा वैसे ही मेरी आँखे दिखाई देती थीं। जैसे कच्ची तोड़ी हुई कडवी लौंकी हवा धूप में चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे सिर की खाल चुचक-मूर्झा गयी थी। उस अनशन से मेरे पीठ के काँटे और पैर की खाल बिल्कुल सट गयी थी। यदि मैं पाखाना या पेशाब करने के लिए उठता तो वही वहरा कर गिर पड़ता। जब मैं काया को सहराते हुए हाथ से गात्र को मसलता तो काया से सड़ी जड़ वाले रोम झड़ पड़ते। मनुष्य कहते, श्रमण गौतम काला है, कोई कहते मँगुर वर्ण है। मेरा

वैसा परिशुद्ध गौरे चमडे का रग नष्ट हो गया था।" (वही पृ० ३४८)

मुझे लगा कि —"देह दडन दुखकारी है, धीर-वीरो को शोभा देने लायक नही है, अनर्थवाह है (दुक्खो अनरियो अनत्य सहितो)। और मैने स्थूल आहार ग्रहण करना प्रारभ कर दिया।"

अन्त मे बोधिसत्त्व के मन ने यह निश्चय किया कि तपश्चर्या बिलकुल निरर्थक है। अत तपश्चर्या का त्याग कर दिया।

इस उपयुक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध ने घर से निकलने के बाद 'आलार कालाम' आदि योगियो के पास रहकर उन के हठयोग की क्रियाएँ सीखी तथा उनकी मान्यताओ के अनुसार तप आदि भी किये, किन्तु जब वह वहाँ से ऊब गये तो दूसरे धर्म सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए। इस प्रकार छ सात वर्षो तक अनेक धर्म सप्रदायो मे दीक्षित होकर छोडते गये। अर्थात् पूर्व पूर्व गुरुओ की चर्या तथा तत्त्व का मार्ग छोड कर अपनी विचारधारा से एक नये सप्रदाय की स्थापना की। वह सम्प्रदाय आज बुद्धधर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

—०—

बौद्ध-जैन संवाद में मांसाहार निषेध

जैनागम सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुत स्कन्ध के छठे अध्ययन में एक प्रसंग आता है जो इस प्रकार है.—

श्रम भगवान् महावीर का चतुर्मास राजगृह में था। चतुर्मास के वाद भी भगवान् राजगृह मे धर्मप्रचारार्थ ठहरे। उस सतत प्रचार का आगातीत फल हुआ।

एक वार भगवान् के शिष्य आर्द्रकमुनि भगवान् को वन्दन करने के लिए गुणशील चैत्य मे जा रहे थे। रास्ते में उनका शाक्यमुनि के भिक्ष से इस प्रकार वार्तालाप हुआ। उस वार्तालाप में जीवहिंसा और माँसाहार सम्बन्धी जैनो का क्या सिद्धान्त है, इसका भी खुलासा आर्द्रकमुनि ने किया है जो कि इस प्रकार है :—निर्ग्रंथ आर्द्रकमुनि ने शाक्यमुनि के भिक्षु से कहा कि :—

"जीवो की खुले आम हिसा करना संयतों (मुनियों) के लिए सर्वथा अयोग्य है। जो ऐसे कामों का उपदेश देते है और जो उसे सुन कर उचित समझते है वे दोनों अनुचित काम करने वाले है।

"महाशय! इस सिद्धान्त से तो तत्त्वज्ञान नहीं पा सकते, लोक को करामलकवत् प्रत्यक्ष नही कर सकते। भिक्षुजन! जो श्रमण शुद्ध आहार करते हैं, जीवों के कर्मविपाककी चिन्ता करते हुए आहार-विधि के षेपों को टालते है और निष्कपट वचन बोलते है, वे ही संयत हैं और यही संयतों का धर्म है।

"जिनके हाथ लहू मे रंगे हैं, ऐसे असंयत मनुष्य दो हजार वोधिसत्त्व (वौद्ध) भिक्षुओं को नित्य भोजन कराते हुए भी यहाँ निन्दा के पात्र

बनते हैं और परलोक मे दुर्गति के अधिकारी बनते है। और जो यह कहते हैं कि बडे बकरे को मारकर और मिर्च-पीपर डाल कर तैयार किये हुए मांस के भोजन के लिए कोई निमत्रण दे तो हम उस मास को खा सकते हैं और उस मे हमे कोई पाप नही लगता, वे अनार्यधर्मी और रसलोलुपी है। भोजन करने वाले पाप को न जानते हुए भी पाप का आचरण करते हैं। जो कुशल पुरुप हैं वे मन से भी ऐसे आहार की इच्छा नही करते और न ही ऐसे मिथ्या वचन बोलते हैं।

"जैन मुनि सब जीवो की दया की खातिर पाप-दोप का वर्जन करते हुए दोप की शका से भी ऐसे आहार को ग्रहण नही करते। ससार मे सयतो का ही धर्म है। इस आहारशुद्धि रूप समाधि और शील गुण को प्राप्त कर जो वैराग्य भाव से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) धम का पालन करते हैं, वही तत्त्व-ज्ञानी मुनि इस लोक मे कीर्ति प्राप्त करते है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ श्रमण सदा इस बात की सावधानी रखते हैं कि उनके द्वारा छोटे-से-छोटे किटाणु की भी हिंसा न हो। इसीलिये वे रात्रि को भोजन भी नही करते यानी सूर्यास्त के बाद वे कोई वस्तु खाते पीते नही। रात्रि को दीपक भी नही जलाते, इसलिये कि उस पर पतगो के गिरने की सम्भावना रहती है। वे उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते सब अवस्थाओ मे सदा इस बात की सावधानी रखते हैं कि किसी भी प्रकार से बडे से लेकर छोटे-से-छोटे जीव-जन्तु की भी हिंसा न हो जाय। वे वर्षा ऋतु मे ग्रामान्तर नही जाते, एक ही नगर अथवा ग्राम मे वास करते हैं, क्योकि इस ऋतु मे असख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाने से ग्रामान्तर जाने-आने से हिंसा होना सम्भव है। वे छ जीवनिकाय की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं।

इसी स्तम्भ मे निग्रन्थ मुनि आर्द्रक के सवाद मे यह भी स्पष्ट वर्णन है कि उन्होने बौद्ध भिक्षु को मासाहार मे दोप बतलाते हुए बतलाया है प्राण्यग मासाहार करने वाला व्यक्ति न तो सयमी ही बन सकता है और

न वह ज्ञानवान् ही कहला सकता है एवं न वह स्वपर का कल्याण ही कर सकता है। ऐसी अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति भी कभी नही हो सकती।

निर्ग्रन्थ श्रमण के लिये नव कोटिक (हिंसा करना नही, कराना नही और करने वाले को भला जानना नही। मन से नही करना, वचन से नहीं करना और काया से नही करना इत्यादि। इस प्रकार ३×३=९ कोटिक) अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को व्यवहार में लाने के लिये वाह्य प्रवृत्ति को विशेप नियन्त्रित कर जीवहिंसा तथा मांसाहार आदि का सर्वथा निपेव किया है। निर्ग्रन्थ श्रमणो की चर्या सदा से ही उग्र चली आ रही है और उनके त्याग, संयम, तप तथा अहिंसा का स्वरूप अनुपम एवं अलौकिक रहता आया है। इसलिए उसके चारित्र की गहरी छाप तत्कालीन जनता पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ श्रमणों की चर्या का उस समय के मानव समाज पर वहुत वड़ा प्रभाव था, जिससे आकर्पित होकर शाक्य मुनि गौतम वुद्ध ने पार्श्वापत्य निर्ग्रन्थ परम्परा में दीक्षा ग्रहण की तथा उनके तत्त्वज्ञान को जाना। उन्होंने अपनी निर्ग्रन्थचर्या मे प्रवेश करने से पहले स्पष्ट लिखा है कि—**"मैं प्रसिद्ध श्रमण नायकों का तत्त्वज्ञान जान लेने के उद्देश्य से राजगृह जाता हूँ।"** वहाँ जाकर निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित होकर जिस चर्या का उन्होंने आचरण किया है उसमें उन्होंने इस वात का भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि—**"उस अवस्था में मैं मत्स्य-मॉस-मदिरा आदि का सेवन नहीं करता था।"** इससे यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ आचार-विचार मे प्राण्यंग मत्स्य-मांसादि के भक्षण का सर्वथा निषेध है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए अगले खण्ड में हम निम्न-लिखित मुद्दों पर विचार करेंगे, जिससे यह वात स्पष्ट फलित हो जायगी कि भगवान् महावीर का तथा जैन निर्ग्रन्थ श्रमणों का मांसाहार करना कदापि संभव नही हो सकता, अतः इन सूत्रपाठों के शब्दों का सामिषाहार अर्थ करना नितान्त अनुचित ही है।

अगले खड में निम्नलिखित मुद्दो पर विचार करेंगे —

१—भगवान महावीर के औषध सेवन वाले विवादास्पद सूत्रपाठ के अथ के लिये जैन विद्वानो के मत ।

२—भगवान महावीर को इस औषधदान देने पर दिगम्बर जैनो का मत ।

३—जैन तीर्थंकर का आचार ।

४—निर्ग्रन्थ श्रमण का आचार ।

५—निग्रन्थ श्रमणोपासको (गृहस्थो) का आचार ।

६—औषध सेवन करने वाले, लाने वाले तथा बनाने वालो के जीवन ।

७—मासाहारी प्रदेशो मे रहने वाले जैनो का भूतकाल तथा वर्तमान काल मे जीवनसस्कार ।

८—नीर्थी तरिको द्वारा जैनधम सम्बधी आलोचना मे मासाहार के आक्षेप का अभाव ।

९—तथागत गौतम बुद्ध का निर्ग्रन्थ तपश्चर्या करते समय मासाहार को ग्रहण न करने का वणन ।

१०—भगवान् महावीर का रोग और उसके निदान के लिये योग्य औषध ।

११—विवादास्पद प्रकरण वाले पाठ मे आने वाले शब्दो के वास्तविक अर्थ ।

द्वितीय खण्ड

निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर पर मांसाहार के आक्षेप का निराकरण

महाश्रमण भगवान् महावीर स्वामी पर मांसाहार के आरोप का निराकरण

जैनो के पांचवें अग श्री भगवतीसूत्र के जिस पाठ का अर्थ करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को मासाहारी सिद्ध करने की जो अनुचित चेष्टा की गयी है उसके विषय में इस विचित्र कल्पना का निरसन करना नितान्त आवश्यक है, जिससे पाठक वास्तविकता को समझ सकें।

भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक मे गोशालक का वर्णन आता है। उसका सक्षिप्त साराश यह है —

गोशालक पहले भगवान् महावीर का शिष्य था और भगवान् के साथ लग-भग छ वर्षों तक रहा। अलग होने के बाद उसने तेजोलेश्या सिद्ध की तथा अष्टाङ्ग निमित्त का अभ्यास करके अपने आप को सर्वज्ञ होने की उद्घोषणा की। एक बार वह श्रावस्ती नगरी मे आया और वहा अपने आप को सर्वज्ञ रूप मे प्रसिद्ध करने लगा। जनता मे इस बात की चर्चा होने लगी। बाद मे उसी नगरी मे भगवान् महावीर स्वामी पधारे। नगर निवासियो ने गोशालक की सर्वज्ञता की बात भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम स्वामी से पूछी। गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से पूछा। तब प्रभु ने गोशालक की सारी जीवन-कथा कह सुनायी तथा गोशालक ने सर्वज्ञत्व (जिन पद) प्राप्त नहीं किया यह भी कहा। गोशालक का यह जीवनचरित्र लोगो मे चर्चा का विषय बन गया। यह बात गोशालक के कानो तक भी पहुची तब वह बहुत क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ एक बार वह प्रभु महावीर स्वामी

के पास आया और वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाने का प्रयत्न किया। तव भगवान् ने जो ठीक वात थी, उसे कहा। इससे वह और भी क्रोधित हो गया। यह देख कर उसे दो साधु समझाने गये तव उसने उनपर तेजोलेश्या छोडकर उन्हे जलाकर भस्म कर दिया। भगवान् ने उसे समझाया परन्तु परिणाम उलटा निकला।

उसने भगवान् पर भी तेजोलेश्या छोड़ी। यह तेजोलेश्या भगवान् को स्पर्श करके वापिस गोशालक के शरीर मे प्रवेश कर गयी और उस तेजोलेश्या की जलन से गोशालक सातवी रात्रि को पित्तज्वर के दाह से मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इस तेजोलेश्या के स्पर्शमात्र से भगवान् महावीर को पित्तज्वर तथा लहू के दस्त (पेचिश) होने लग गये। यह देखकर प्रजा को तथा अनेक साधुओ को वहुत चिन्ता हो गयी और सर्वत्र यह वात फैल गयी कि भगवान् महावीर छ. मास मे देह त्याग देगे। जिसको प्रभु पर अत्यन्त राग था ऐसा सिह नाम का अणगार (जैन श्रमण) जो जंगल में ध्यान कर रहा था, उसने भी वहां यह वात सुनी। वह दुःखी होकर फूट-फूट कर रोने लगा। भगवान् ने अप ेज्ञान द्वारा इस वात को जान कर सिह मुनि को दूसरे साधु द्वारा अपने पास वुलाया और उसे सान्त्वना दी। जनता तथा मुनिजनों की चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान् ने सिह मुनि से कहा—

हे सिह! तुम मेंढिक ग्राम नगर में जाओ; वहाँ गृहपति की पत्नी रेवती ने दो पाक तैयार किए हुए हैं। उनमें एक मेरे लिए वनाया हैं तथा दूसरा अपने घर के लिये वना कर रखा हुआ है। जो पाक मेरे लिए बनाया है उससे प्रयोजन नहीं (वह मत लाना)। परन्तु जो दूसरा उसने अपने लिए वना कर रखा हुआ है उसे ले आओ।"

भगवान् ने वह पाक आसक्ति से रहित होकर खाया और पीड़ा शांत हुई।

यहा उपयु क्त दो पाको के लिए जो शब्द शास्त्रकार ने लिखे हैं उनके बारे मे किसी को भी आपत्ति नही है, वे तो सबको मा य हैं। परन्तु उन शब्दो के अथ मे आपत्ति है । वे श द विवादग्रस्त हैं, इस लिए इसकी चर्चा करके इसका निर्णय करने की आवश्यकता है ।

(१)

विवादास्पद सूत्रपाठ और उसके अर्थ के लिये जैन विद्वानो के मत

सूत्र में वर्णित मूल पाठ --

"त गच्छह ण तुम सीहा ! मेंढियगाम नगर रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ ण रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमसए तमाहराहि, एएण अट्ठो। (भगवती सूत्र शतक १५)

(क)

जैन शास्त्रो मे से नवागो (नौ आगमो) के टीकाकार महान् समथ विद्वान आचार्य अभयदेवसूरि ने क्रमश अग सूत्रो पर टीका रची है। तृतीयाँग-ठाणांग जी सूत्र की टीका करते हुए उसके नवमे ठाणे मे प्रभु महावीर के समय मे नव (९) जनो ने तीर्थंकर नामकम बाँधा इसका वणन आया है । उन नौ जनो ने किस-किस कारण से तथा क्या करने से तीर्थंकर नामकम उपाजन किया ऐसा पाठ है[१] उनमे से गृहपति की भार्या रेवती भी एक है। उपयु क्त विवाद वाला आहार प्रभु को देने के कारण रेवती ने तीर्थकर नामकम का बन्ध किया था ऐसा पाठ है । उस प्रसग का उल्लेख करते हुए नवागीटीकाकार अभयदेवसूरि ने इस विवाद वाले सूत्रपाठ का इस प्रकार अर्थ किया है —

"ततो गच्छ त्व नगरमध्ये तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थ

१—इस पाठ का उल्लेख हम आगे करेंगे।

द्वे कूष्मांडफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुडमांसकं –बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर तेन नः प्रयोजनमिति ।"

(ठाणांग सू० १९१)

अर्थात्—"तुम नगर मे जाओ, रेवती नाम की गृहपति की भार्या ने मेरे लिए दो कूष्माण्ड फल (पेठे) संस्कार करके तैयार किये हैं, उनका प्रयोजन नहीं, परन्तु उसके घर मे मार्जार नामक वायु की निवृत्ति करने वाला बीजोरे फल का गूदा है, वह ले आओ। उसका मुझे प्रयोजन है। (ठाणांग सूत्र सू० १९१)

इस उपर्युक्त अर्थ से यह बात स्पष्ट है कि ठाणाग जो सूत्र में इन शब्दो का अर्थ श्रीअभयदेवसूरि ने स्पष्ट रूप से वनस्पतिपरक किया है इसलिये यही अर्थ यथार्थ रूप में उन्हे मान्य था।

(ख)

इन्ही टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने ठाणांगजी की टीका लिखने के बाद पंचमाग "भगवती जी" सूत्र की टीका वि० सं० ११२८ में लिखी। इसमें गोशालक के प्रसंगवाले पन्द्रहवे शतक में भी जो उन्हे स्वयं मान्य अर्थ था वही किया। किन्तु एक निष्पक्ष टीकाकार होने के नाते उनके समय में कोई-कोई व्यक्ति इन शब्दों में से स्थूल दृष्टि से फलित होने वाले प्राणीवाचक अर्थ भी मानते होगे यह बतलाने के लिए उन्होंने यह बात भी अपनी टीका में लिखी। ऐसा लिखते हुए भी यह बात उन्हें स्वयं मान्य नहीं थी। यदि यह बात उन्हे मान्य होती तो वे "**श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते**"—ऐसा न लिखते किन्तु इस अर्थ की चर्चा करके स्पष्ट करने की चेष्टा करते। न तो उन्होंने ऐसी कोई चर्चा ही की है और न ही ऐसा अर्थ किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें स्वयं इन शब्दो का अर्थ प्राणीवाचक मान्य नही था यह निश्चित है। उन्हें स्वयं जो अर्थ मान्य था उसी का उल्लेख उन्होंने ठाणॉग जी मे किया

है तथा यहा भी वैसा ही अर्थ किया है। इसलिए वनस्पतिपरक अर्थ ही वास्तविक है।

श्री भगवती सूत्र के विवादास्पद सूत्रपाठ की टीका

"दुवे कवोया" इत्यादे—श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते । अन्ये त्वाहु कपोतक—पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते कूष्माडे, ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादिव कपोतक-शरीरे कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते-सस्कृते 'तेहिनो अट्ठो' त्ति बहु-पापत्वात। 'पारिआसिए' त्ति परिवासित ह्यस्तनमित्यर्थ इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते। अन्येत्वाहु—'मज्जारकडए' मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृत सस्कृत मार्जारकृत अपरे त्वाहु—मार्जारो-विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृत—भावित यत्तया, किं तत ? इत्याह—'कुर्कुटकमासक' बीजपूरक कटाहम् 'आहराहि' त्ति निरवद्य-त्वादिति।

अर्थात्—इस लिये हे सिंह ! तुम मेंढिक ग्राम नाम के नगर मे गृह-पति की भार्या रेवती के घर जाओ। वहा उस ने मेरे लिये (कोई-कोई दुवे कवोय सरीरा का प्राणीपरक अर्थ भी मानते हैं परन्तु अन्य कहते हैं कि) दो कुष्माण्ड फल (पेठे के फल) तैयार किये है, उन से मुझे प्रयोजन नही, क्यो कि इसे लाना बहुत दोष का कारण है (निग्रंथ श्रमण के निमित्त जो आहार तैयार किया जाता है ऐसा आहार जैन साधु का लेना नही कल्पता इस लिये ऐसा आधाकर्मी पेठे का पाक जो श्रमण भगवान् महावीर के निमित्त बनाया गया था, उसे लाने के लिये मना कर दिया), परन्तु इस के इलावा दूसरा जो पाक उन्होने अपने लिये पहले का बना कर रखा हुआ है, 'वह मज्जारकडए' (इस के लिये भी ऐसा सुना है कि कोई-कोई इस का प्राणीपरक अर्थ मानते हैं परन्तु अन्य सब ऐसा मानते हैं) यानी

मार्जार नामक वायु को शान्त करने वाला, अन्य आचार्यों का कहना है कि विरालिका नामक वनस्पति से भावना किया हुआ बीजोरापाक है, उसे ले आओ, उस से मुझे प्रयोजन है।

श्रीअभयदेवसूरि ने इस उपर्युक्त टीका (वृत्ति) मे लिखा है कि सुनते है कि कोई-कोई 'दुवे **कवोयसरीरा** और **मज्जारकडए कुक्कुड मंसए**, का अर्थ प्राणीपरक करते है। इस से यह बात तो स्पष्ट है कि अन्य जैनाचार्य और उस समय के आम विद्वान् इन शब्दो का अर्थ वनस्पतिपरक करते थे और यही अर्थ आचार्य श्रीअभयदेवसूरि को भी मान्य था। हमारी इस धारणा की पुष्टि (१) ठाणाग सूत्र की गृहपति की भार्या रेवती के परिचय मे मूल पाठ की टीका है। (२) इस पाठ से भी स्पष्ट है कि कोई-कोई ऐसा अर्थ भी करते है। यदि उन का अपना भी यही मत होता तो वे 'सुना है' ऐसा न लिख कर इन शब्दो का प्राणीपरक अर्थ करके वनस्पतिपरक अर्थ के साथ 'श्रूयमाणमेवार्थ' लिखते। इस से भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य अभयदेव को भी वनस्पतिपरक अर्थ ही मान्य है। (३) इस पाठ के विपय मे इन शब्दो का मांसपरक अर्थ किसी भी अन्य उपलब्ध टीकाओं मे नही मिलता। (४) इन शब्दो के अर्थ वनस्पतिपरक ही होना चाहिये और यही अर्थ ठीक है इस विषय की पुष्टि के लिये हम अन्य जैनाचार्यो के मत भी दे देना उचित समझते हैं।

(ग)

विक्रम संवत् ११४१ पाटण में कर्णदेव के राज्य समय मे जैनाचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने प्राकृत भाषा में तीन हजार श्लोकप्रमाण 'महावीर चरित्र' रचना की है, जो ग्रंथ आत्मानन्द ग्रंथ रत्न माला ग्रंथ नं० ५८ भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा की तरफ से वि० सं० १९७३ मे प्रकाशित हुआ है। उसके पत्र ८४ में यह अधिकार गाथा नं० १९३० से ३५ तक इस प्रकार वर्णन है।

"ता गच्छ तुमं मिंढियगामं मग्गाहि रेवई मज्झं।
गाहावईण कज्जे पज्जुसियं ओसहं कप्पं ॥१९३०॥

सीहो य गओ तीए गेहं अब्भुट्ठिओ य हिट्ठाए।
सत्तट्ठ पए अहिगम्म, वंदिओ परमभत्तीए ॥१९३१॥
भणिओ साहेहि तुमं देवाणुपिया इहागमणकज्जं।
तेण य भणियं अज्जे! अमुगं पज्जुसियं ओसहं अत्थि ॥१९३२॥
तुज्झ गिहे तं वियरसु, सा भणई इमं रहस्सनिम्मवियं।
कहं भणसि तुमं? कहियं केवलिणा वीरनाहेण ॥१९३३॥
तं सोउं सा तुट्ठा वियरइ सीहस्स ओसहं तं तु।
दव्वाइविसुद्धेण ओसह-दाणेण सा तेण ॥१९३४॥
देवाउयं निबंधई, परित्तससारियत्तणं कुणई।
दिव्वाणि तत्थ पंच य पाउब्भूयाणि सयराहं ॥१९३५॥

भावार्थ—[हे सिंह!] तुम मेढिक ग्राम में जाओ। रेवती के पास जाकर कल्पे ऐसी औषध जो उसने अपने लिये तयार करके रखी हुई है ले आओ। सिंह अणगार उस रेवती के घर गया। तब उसने हर्षित होकर अभ्युत्थान किया (उठी)। सात-आठ कदम आगे जाकर परमभक्ति पूवक वन्दना की। सिंह मुनि ने उसे कहा कि 'तुम्हारे घर तुम्हारे लिये तैयार की हुई जो औषध है वह मुझ दो, उसने कहा कि यह औषध मैने एकान्त मे अर्थात अपने घर म बनायी है जिस का किसी को पता नही। इसे तुम ने कैसे जाना? मुनि ने कहा कि केवली (सर्वज्ञ) वीरनाथ (भगवान महावीर स्वामी) ने यह कहा है। द्रव्यादि से विशुद्ध इस औषधदान से रेवती ने देवायु का बन्ध किया। तथा परिमित ससारीपना किया। वहा दिव्य प्रगट हुए।

(घ)

विक्रम संवत् ११३९ में गुणचन्द्रगणि नामक विद्वान ने प्राकृत भाषा म गद्य-पद्य मे बारह हजार श्लोक प्रमाण महावीरचरित्र रचा है,

जो देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड सूरत से प्रकाशित हो चुका है। उसके प्रस्ताव ८ पत्र २८२, २८३ में वर्तमान चर्चास्पद विषय पर प्रकाश डालता हुआ वर्णन है। वहाँ सिंह अणगार की प्रार्थना से कल्प्य औषधि स्वीकार करने के लिए भगवान् महावीर सम्मत होने पर भी "अपने निमित्त से तैयार की हुई औषध नही कल्पती," ऐसा साधुसामाचारी-मर्यादा को अपने आचरण से सूचित करते हैं।

"जइ एवं ता इहेव नयरे रेवईए गाहावइणीए समीवं वच्चाहि। ताए य मम निमित्तं जं पुव्वं ओसहं उवक्खडियं तं परिहरिऊण इयरं अप्पणो निमित्तं निप्फाइय आणेहि त्ति।"

भावार्थ—[हे सिंह!] यदि ऐसा ही है तो इसी नगर में (मेंढिक ग्राम मे) रेवती नाम की गृहपति की पत्नी के समीप जा, उसने मेरे निमित्त जो पहले औषध तैयार की हुई है उसे छोड़ कर दूसरी (औषध) जो उस ने अपने लिये तैयार की हुई है, वह लाना। भगवान् महावीर के लिये औषधदान देने से इस भक्त श्रद्धालु की देवगति हुई, इत्यादि वहां विस्तृत वर्णन है।

(ङ)

स्वतंत्र संस्कृत-प्राकृत शब्दानुशासन, कोश, काव्य, साहित्य रचने वाले सुप्रसिद्ध कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र ने विक्रम की तेरहवी शताब्दी में "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" महाकाव्य रचा है, जिसके दसवे पर्व में लगभग छ. हजार श्लोकप्रमाण भगवान् महावीर का चरित्र है। यह ग्रंथ भावनगर से जैनधर्म प्रसारक सभा ने विक्रम संवत् १९६५ मे प्रकाशित किया है। उसके आठवे सर्ग के श्लोक ५४९ से ५५२ में चालू चर्चास्पद विषय पर स्पष्ट प्रकाश डाला है।

मादृशां दुःखशान्त्यै तत् स्वामिन्नादत्स्व भेषजम्।
स्वामिनं पीडितं द्रष्टुं, नहि क्षणमपि क्षमाः ॥५४९॥

तस्योपरोधात् स्वाम्यूचे, रेवत्या श्रेष्ठिभार्यया।
पक्व कूष्माडकटाहो, यो मह्य त तु मा ग्रही ॥५५०॥
बीजपूरकटाहोऽस्ति य पक्वो गृहहेतवे।
त गृहीत्वा समागच्छ, करिष्ये तेन वो घृतिम् ॥५५१॥
सिहोऽगादथ रेवतीगृहमुपादत्त प्रदत्त तया,
कल्प्य भेषजमाशु तत्र ववृषे स्वर्ण च हृष्टै सुरै ।
सिहानीतमुपास्य भेषजवर तद् वधमान प्रभु,
सद्य सघचकोरपार्वणशशी प्रापद् वपु पाटवम् ॥५५२॥

भावार्थ—[भक्तिमान सिह अनगार ने कहा] हे स्वामिन्! हमारे जैसो के दु ख की शाति के लिये तो आप भेषज ग्रहण करो, क्योंकि मेरे जैसो से (भक्तो-सेवको से) स्वामी को क्षणवार भी पीडित नही देखा जाता। उसके आग्रह से स्वामी ने (भगवान् महावीर ने) कहा कि—सेठ की भार्या रेवती ने मेरे लिये ही कुष्माण्ड-कटाह (पेठे का पाक) बनाया है, उसे मत लाना। किन्तु उसने अपने घर के लिये जो बीजपूर कटाह (बीजोरा पाक) बनाया है, उसे ले आओ। उसके द्वारा तुम्हें धृति—धीरज पैदा होगी। तत्पश्चात् सिह (मुनि) रेवती श्राविका के घर गया तथा उसके द्वारा दिये हुए कल्पे ऐसे भेपज (औषध) को भगवान् ने स्वीकार किया। वहा हर्षित हुए देवो ने शीघ्र ही स्वण वृष्टि की। सघ रूपी चकोर को उल्लसित करने के लिये चन्द्रमा के समान वर्धमान प्रभु (भगवान् महावीर) ने सिंह के द्वारा लाये हुए उस भेषज का सेवन किया। तत्पश्चात् शीघ्र ही शरीर की स्वस्थता प्राप्त की।

इन उपर्युक्त उद्धरणो से यह बात स्पष्ट है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वनस्पति से तैयार की गयी औषध को ही अपने रोग की शाति के लिये सेवन किया था। इस विवेचन मे दिये गये 'क, ख, ग, घ' उद्धरणो के लेखक विक्रम की बारहवी शताब्दी के समकालीन हैं तथा "ङ" उद्धरण के लेखक तेरहवी शताब्दी के हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उस

समय के सभी जैन आचार्य इस औषधिदान को वनस्पतिपरक ही मानते थे। इस वात की पुष्टि के लिये और भी अनेक उल्लेख मिलते है। परन्तु विस्तारभय से इतने प्रमाण देना ही पर्याप्त हैं। मुज्ञेषु किं वहुना ?

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जैनाचार्य हज़ारो वर्षो से इन शब्दों का अर्थ 'वनस्पतिपरक' ही करते आये है। अतः निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) ने अपने रोग की शान्ति के लिये अथवा अन्य भी किसी समय मांसाहार कदापि ग्रहण नही किया। भगवान् महावीर के विषय मे भगवती सूत्र के इस एक उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा उल्लेख जैनागमों अथवा जैन साहित्य मे नही पाया जाता जिससे उनके विषय में मांसाहार करने की आशंका का होना संभव हो। इस चर्चास्पद सूत्रपाठ से भी यह वात स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ मासपरक नही किन्तु वनस्पतिपरक है।

(२)

इस औषधदान पर दिगम्बर जैनों का मत

दिगम्वर जैन संप्रदाय के विद्वान् भी रेवती (मेढिक ग्राम वाली) के इस औषधदान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते है। रेवती ने जो तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया, उसका कारण भी यह औषधदान ही था, ऐसा कहते है। वह लेख यह है।

"रेवतीश्राविकया श्रीवीरस्य औषधदानं दत्तम्। तेनौषधिदान-कालेन तीर्थंकरनामकर्मोपार्जितमत एव औषधिदानमपि दातव्यम्।"

(हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्वई की जैन चरितमाला नं० ६)

अथ—रेवती श्राविका ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को औषध-दान दिया। उस औषधदान देने से उसने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया। अत औषधदान भी देना चाहिये।

इस उपर्युक्त उल्लेख से भी यही स्पष्ट है कि जैनधम के किसी भी सम्प्रदाय अथवा विभाग को इस औषध दान के विषय मे—फिर वह चाहे श्वेताम्बर हो अथवा दिगम्बर—कोई मतभेद नही है। सभी को यह बात मान्य है कि यह औषध वनस्पति से ही तैयार की गयी थी।

(३)

जैन तीर्थंकर का आचार

जो जीव तीर्थंकर होते हैं, वे तीर्थंकर होने से तीन भव पहले बीस स्थानक अथवा सोलह कारण (बीस प्रकार के कृत्य, जिनका समावेश सोलह कारणो मे होता है) का आराधन करके तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करते हैं। यहाँ से काल करके (मृत्यु पाकर) प्राय स्वर्ग मे उत्पन्न होते हैं। वहा से काल करके मनुष्य क्षेत्र मे बहुत भारी समृद्धि और परिवार वाले उत्तम शुद्ध राज्य कुल मे जन्म लेते हैं। तीर्थंकर होने वाले इन जीवो को माता के गर्भ मे ही अवश्यमेव तीन ज्ञान मति, श्रुत, अवधि होते हैं। इनका शरीर वज्रऋषभनाराचसहनन वाला होता है (वज्र के समान दृढ होता है), इनकी आयु अनपवर्तनीय (किसी घातादि के निमित्त से क्षय न होने वाली) होती है। ये महानुभाव ससार की मोह-माया-ममता का सर्वथा त्याग कर देते हैं। अपनी दीक्षा का समय तीर्थंकरो के जीव अपने ज्ञान से ही जान लेते हैं। इनका गृहस्थजीवन भी प्राय अनासक्त होता है। दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले एक वर्ष तक दान देकर, यदि माता-पिता विद्यमान हो तो उनकी आज्ञा लेकर बड़े महोत्सव पूर्वक स्वयमेव दीक्षा ग्रहण करते हैं। किसी को गुरु नही बनाते, क्योंकि वे तो स्वय ही त्रिलोकी के गुरु होने वाले होते हैं और ज्ञानवान् हैं। दीक्षा लेकर

सब प्रकार के पापजन्य मानसिक-वाचिक-कायिक व्यापारों का त्याग कर महान् अद्भुत तप करते है, जिससे चार घाती कर्मो का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते है, फिर संसारतारक उपदेश देकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। ऐसे महापुरुष तीर्थंकर होते है।

तीर्थंकर भगवान् वदले के उपकार की इच्छा न रखते हुए राजा-रंक, ब्राह्मण से चाडाल पर्यन्त सब प्रकार के योग्य नर-नारियों को एकान्त हितकारक, संसारसमुद्र से तारक धर्मोपदेश देते है।

तीर्थंकर भगवान् के गुणों का पारावार नही, उनके गुण अपार हैं। अत. सबका वर्णन करना असंभव है, फिर भी यहां संक्षेप में कुछ गुणों का उल्लेख किया जाता है।

१. अनन्त केवलज्ञान, २. अनन्त केवलदर्शन, ३. अनन्त चारित्र, ४. अनन्त तप, ५. अनन्त वल, ६. पाँच अनन्त (दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य) लब्धियाँ, ७. क्षमा, ८. संतोष, ९. सरलता, १०. निरभिमानिता, ११. लाघवता, १२. सत्य, १३. संयम, १४. इच्छारहितपन, १५. ब्रह्मचर्य, १६. दया (जीवहिसा का नवकोटिक त्याग), १७. परोपकारिता, १८. वीतरागता (राग-द्वेष रहितता), १९. शत्रु-मित्रभाव रहित, २०. स्वर्णपापाणादि समभाव, २१. स्त्री-तृण पर समभाव, २२. मांसाहार रहित, २३. मदिरापान रहित, २४. अभक्ष्य (न खाने-पीने योग्य पदार्थ) भक्षण रहित, २५. अगम्यगमन रहित, २६. करुणा के समुद्र, २७. शूर, २८. वीर, २९. धीर, ३०. अक्षोभ्य, ३१. पर निन्दा रहित, ३२. अपनी स्तुति न करे, ३३. अपने विरोधि को भी तारने वाले इत्यादि।

(१) मोहनीय, (२) ज्ञानावरणीय, (३) दर्शनावरणीय, (४) अन्तराय इन चार घातिया कर्मो के क्षय करने के कारण १८ दोषों से रहित होते है।

"अन्तराया दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगगाः,
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञान निद्रा चाविरतिस्तथा,
रागो-द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥

[अभिधान चि० को० १, श्लो० ७२-७३]

अर्थात्—(१) मिथ्यात्व, (२) राग, (३) द्वेष, (४) अविरति, (५) कामवासना, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक, (१०) भय, (११) जुगुप्सा (ये ११ दोष मोहनीय कर्म के क्षय से), (१२) निद्रा (दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से), (१३) अज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से), (१४) दानान्तराय, (१५) लाभान्तराय, (१६) भोगान्तराय, (१७) उपभोगान्तराय, (१८) वीर्यान्तराय (अन्तराय कर्म के क्षय से)—इन अठारह दोषों से रहित होते हैं।

हम ऊपर लिख आये हैं कि तीर्थंकर का जीव तीर्थंकर होने से तीन भव पहले बीस स्थानक अथवा सोलह कारण का आराधन करके तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्धन करते है। सो वे सोलह कारण ये हैं।

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य"।

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६)

१ दर्शनविशुद्धि, (वीतराग सर्वज्ञ के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ श्रद्धा)। २ विनय सम्पन्नता (ज्ञानादि और उनके साधनों के प्रति निरतिचार—विनय बहुमान रखना)। ३ शीलव्रतानतिचार (शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद)। ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (ज्ञान में सतत उपयोग)। ५ अभीक्ष्ण संवेग (सांसारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी इन के लालच में नहीं पड़ना)। ६-७-८-९ शक्ति के अनुसार त्याग और तप, चतुर्विध संघ और साधु की समाधि (स्वास्थ्य का ध्यान रखना) और

को प्राप्त करने के पश्चात् बीस अथवा सोलह भावनाओं में से किसी भी एक-दो अथवा अधिक भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर सकता है। सम्यग्दर्शन के अभाव से मिथ्यादृष्टि अन्य किन्हीं भी भावनाओं को आचरण मे लाता हुआ कदापि तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन नहीं कर सकता।

तीर्थंकर भगवान् का संक्षिप्त आचार तथा विचार जानने के लिए देखे प्रथम खण्ड मे स्तम्भ नं० ४ से ७ तक। इन सब स्तम्भों को पढ़ने से पाठक स्वयं जान सकेंगे कि तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी के आचारो तथा विचारों का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट है कि वे कभी भी मांसाहार को ग्रहण नही कर सकते थे।

निर्ग्रंथ श्रमण (मुनि) तथा निर्ग्रंथ श्रमणोपासक (श्रावक) का आचार

इस निबन्ध के प्रथम खण्ड मे स्तम्भ न० २ से ७ तक हम देख चुके है कि १—जैन तीर्थंकर के आचार, २—निर्ग्रन्थ श्रमण, तथा ३—निग्रंथ श्रावक-श्राविकाओ (तीनो) के आचार-विचार से यह बात स्पष्ट है कि जैन दर्शन तथा आचार को सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र मे उतारने वाला कोई भी व्यक्ति—फिर वह चाहे तीर्थंकर हो, श्रमण हो अथवा व्रतधारी श्रावक हो—कदापि मत्स्य-मास-मदिरा आदि पदार्थो का सेवन नही कर सकता। इन पदार्थों को जैनागमो मे अभक्ष्य कहा है और ऐसे अभक्ष्य पदार्थो के सेवन का सर्वत्र निषेध किया है। इनका औषध रूप मे भी तीर्थंकर अथवा निर्ग्रन्थ श्रमण प्रयोग नही कर सकते।

इस औषध को सेवन करने वाले, औषध लाने वाले तथा औषध बनाने और देने वाली का जीवन परिचय

१--वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर भगवान् वर्धमान-महावीर स्वामी ने रक्त-पित्त (पेचिश) तथा पित्तज्वर की व्याधि को मिटाने के लिए इस औषध का सेवन किया। २—निर्ग्रंथ श्रमण सिंह ने यह औषध लाकर दी। ३—रेवती श्राविका ने इस औषध को अपने घरके लिए बनाया और सिंह मुनि को भगवान् महावीर के रोगशमन के लिए प्रदान किया।

१--सर्व प्रथम श्रमण भगवान् महावीर के सम्बन्ध में विचार करते हैं—

भगवान् महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे। दोनों श्रमण संप्रदाय के समर्थक थे। फिर भी दोनों के अन्तर को जाने बिना हम उनके आचार-विचार सम्बन्धी किसी नतीजे पर नही पहुच सकते।

(क) पहला अन्तर तो यह है कि बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण से लेकर अपना नया मार्ग-धर्मचक्र प्रवर्तन किया, तब तक के छः वर्षो मे उस समय प्रचलित भिन्न-भिन्न तपस्वी और योगी संप्रदायों का एक-एक करके स्वीकार-परित्याग किया। अन्त मे अपने विचारो के अनुकूल एक नया ही मार्ग स्थापित किया, जबकि महावीर को कुलपरम्परा से जो धर्म-मार्ग प्राप्त था वह उसे लेकर आगे बढे और उस धर्म में अपनी साहजिक विशिष्ट ज्ञानदृष्टि और देश व कालकी परिस्थिति के अनुसार सुधार या शुद्धि की। बुद्ध का मार्ग नया धर्म-स्थापन था तो महावीर का मार्ग प्राचीन काल से चले आते हुए जैनधर्म को पुनःसंस्कृत करने का था।

(ग) बुद्ध ने बुद्धत्व की प्राप्ति से पहले निग्रंथचर्या के अनुसार तपश्चर्या की, बाद में इससे ऊब कर उन्होंने तपश्चर्या का त्याग कर दिया और तत्पश्चात् बुद्धत्व प्राप्ति उद्घोषणा करके नये पथ की स्थापना की। तब उन्होंने निर्ग्रंथों के तपप्रधान आचारों की अवहेलना भी की और कड़ी आलोचना भी की। भगवान् महावीर के माता-पिता तथा मामा महाराजा चेटक आदि तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के उपासक थे। यानी भगवान महावीर का पितृधर्म पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों का था। उन्होंने कहीं भी निग्रंथों के मौलिक आचार एवं तत्त्वज्ञान की जरा भी अवहेलना नहीं की है। प्रत्युत निर्ग्रंथों के परम्परागत उन्हीं आचार-विचारों को अपनाकर अपने जीवन के द्वारा उनका संशोधन, परिवर्तन एवं प्रचार किया है।

(घ) भगवान महावीर ने मत्स्य-मांसाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों

वाध्य होना पड़ा, जिनसे उनके जीवन में न तो खान-पान सम्बन्धी संयम ही रहा और न तप ही रहा। जिसके परिणाम स्वरूप वे अहिंसा-तत्त्व से अधिकाधिक दूर होते गये।

परन्तु महावीर का तप शुष्क देहदमन नही था। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरो की सुख-सुविधा की आहुति देकर अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की लालसा बढेगी और उसका फल यह होगा कि सयम न रह पायेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव मे कोरा तप भी देहकष्ट की तरह निरर्थक है।

(ङ) ज्यों-ज्यों भगवान् महावीर संयम और तप की उत्कटता से अपने आप को निखारते गये, त्यों-त्यों वे अहिंसातत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुंचते गये, त्यो-त्यों उनकी गम्भीर शांति बढने लगी और उसका प्रभाव आस-पास के लोगों पर अपने आप पड़ने लगा। मानस शास्त्र के नियम के अनुसार एक व्यक्ति के अन्दर वलवान होने वाली वृत्ति का प्रभाव आस-पास के लोगों पर जान-अनजान मे हुए विना नहीं रहता। परन्तु वुद्ध तप और संयम को त्याग देने के कारण अहिसा तत्त्व को पूर्ण रूप से अपने जीवन में उतारने में असमर्थ रहे। उनका अहिंसा तत्त्व उपदेश मात्र वन कर रह गया। परन्तु अपने और अपने अनुयायियों के आचरण में इसे पूर्ण रूप से न उतार सके। अतः इनका यह अहिंसा सिद्धांत थोथा होकर रह गया।

(च) अहिंसा का सार्वभौम धर्म दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर में परिप्लुत हो गया था, तव उनके सार्वजनिक जीवन के प्रभाव से मगध और विदेह देश का पूर्वकालीन मलिन वायुमंडल धीरे-धीरे शुद्ध होने लगा और वेद विहित पशु-वली-यज्ञों को सदा के लिए देश-निकाला मिल गया। माँसाहारियों की संख्या में एकदम कमी होने लगी। जो लोग मॉसाहारी थे उनको जन साधारण अवहेलना की दृष्टि से देखने लगे। उस समय के अन्य संप्रदायों पर आपके अहिंसा धर्म की गहरी छाप पड़ी

थी। बुद्ध के मध्यम मार्ग का प्रचार पशु-यज्ञो को बन्द कराने मे सफल तो हुआ परन्तु माँसाहार के प्रचार को न रोक सका और स्वय भी माँसाहारी बन गया।

(छ) भगवान् महावीर ने त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायुमडल चारो ओर उत्पन्न किया। परन्तु बुद्ध ने सच्चे त्याग और तप को न समझने के कारण इनकी अवहेलना कर स्थान-स्थान पर कडी आलोचना की है।

(ज) निर्ग्रंथ तपस्या के खडन करने के पीछे बुद्ध की दृष्टि मुख्य यही रही है कि तप यह कायक्लेश है, इन्द्रिय और देहदमन मात्र है, उसके द्वारा दुःख सहन करने का अभ्यास तो बढता है लेकिन उससे कोई आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश का निवारण नही होता इसलिए देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है।

भगवान् महावीर ने भी यही कहा है कि देहदमन या कायक्लेश कितना ही उग्र क्यो न हो पर यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश के निवारण मे नही होता तो वह देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है।

इस का मतलब तो यही हुआ कि आध्यात्मिक शुद्धि के बिना सम्बन्ध वाली तपस्या भगवान महावीर को भी अभीष्ट नही थी।

भगवान् महावीर और बुद्ध की ऐसी समान मान्यता होते हुए भी बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या का खण्डन अथवा कडी आलोचना क्यो की इसका विचार करना भी जरूरी है।

(झ) अपनी शिथिलता के कारण जब बुद्ध को त्याग और तपमय आचार को त्याग कर अपने आचार विचारो सम्बन्धी नये सुझावो को अधिक-से-अधिक लोकग्राह्य बनाने का प्रयत्न करना था, तब उनके लिये ऐसा किये बिना नया सघ एकत्र करना और उसे स्थिर रखना असम्भव था।

क्योंकि उस समय निर्ग्रन्थ परम्परा का वहुत प्राधान्य था। उनके तप और त्याग से जनता आकृष्ट होती थी, जिससे निर्ग्रन्थों के प्रति उनका अधिक झुकाव व वौद्ध धर्मानुयायियों में आचार की शिथिलता को देखकर वह प्रश्न कर उठती थी कि आप तप की अवहेलना क्यों करते है ? तव वुद्ध को अपने शिथिलाचार की पुष्टि के लिये अपने पक्ष की सफाई भी पेश करनी थी और लोगों को अपने मन्तव्यों की तरफ़ खेचना भी था। इस लिये वे निर्ग्रन्थो की आध्यात्मिक तपस्या को केवल कष्टमात्र और देहदमन वतला कर कड़ी आलोचना करने लगे।

(ञ) भगवान् महावीर ने जीवात्मा को चैतन्यमय स्वतन्त्र तत्त्व माना है। अनादिकाल से यह जीवात्मा कर्मवन्धनों में जकड़ी हुई आवागमन के चक्कर मे फँसी हुई पुनः-पुनः पूर्व देह त्यागरूप मृत्यु तथा नवीन देह प्राप्तिरूप जन्म धारण करती है। जीवात्मा शाश्वत है, इसमे चेतना रूप ज्ञान-दर्शनमय गुण है और कर्मो को क्षय करके शुद्ध पवित्र अवस्था को प्राप्त कर निर्वाण अवस्था प्राप्त कर सदा के लिये जन्ममरणरहित होकर शुद्ध स्वरूप में परमात्मा बन जाती है। अतः आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, परलोक आदि को मानकर जैन दर्शन ने 'आत्मा है, परलोक है, प्राणी अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल भोगता है', इत्यादि सिद्धान्त स्वीकार किया है। भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान का परिचय हम प्रथम खण्ड के पाँचवे स्तम्भ में लिख आये है। उससे हमे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऐसे विचार वाला व्यक्ति किसी भी प्राणी का मांस भक्षण नही कर सकता।

परन्तु वुद्ध ने क्षण-क्षण परिवर्तनशील मन के परे किसी भी जीवात्मा को नही माना। मरने का मतलव है मनका च्युत होना। बौद्ध दर्शन अपने आप को अनात्मवादी और अनीश्वरवादी मानता है। उसका कहना है कि "आत्मा कोई नित्य वस्तु नही है परन्तु ख़ास कारणो से स्कधों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य वाह्य भूतों की भांति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्त, विज्ञान, आत्मा

एक ही चीज है। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और त्वक् इद्रियो को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मन को नही। हमे मन की सत्ता क्यो स्वीकार करनी पडती है ? आखे इमली देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है और हाथ नाक पर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आख और जिह्वा एक नही है, न वे एक दूसरे से मिली हुई है। इस लिए इन दोनो के मिलाने के लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिये, और वह है मन। उक्त कारण से चक्षु आदि इन्द्रियो के अतिरिक्त हमे उन के सयोजक एक भीतरी इन्द्रिय को मानने की जरूरत पडती है, जिसे मन कहते है। इससे परे आत्मा की क्या आवश्यकता ? इत्यादि।"

(बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन कृत)

विचार के अनुसार ही आचार होता है। बौद्ध दर्शन मानता है कि आत्मा नहीं है, परमात्मा नहीं है। आत्मा नहीं तो कर्मबन्ध, पाप-पुण्य, परलोक गमनादि किस का होता है ?—इत्यादि प्रश्नो का स्पष्टीकरण भी उनके लिये असभव था। इसी लिए बुद्ध ने इन सब को अकथनीय कह कर टाल दिया था।

बुद्ध से जब लोग प्रश्न करते थे कि (१) क्या लोक है ? (२) क्या लोक अनित्य है ? (३) क्या लोक अन्तवान है ? (४) क्या लोक अनन्त है ? (५) क्या जीव और शरीर एक है ? (६) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? (७) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध मुक्त होते है ? (८) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध मुक्त नही होते ? (९) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध होते भी हैं, नहीं भी होते ? (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नही होते ? ये प्रश्न बुद्ध से मालुक्य पुत्र ने किये थे। यदि भगवान जानते है तो बतलावें। यदि नहीं जानते तो न जानने समझने वाले के लिए यही सीधी बात है कि वह साफ कह दे मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम (म० नि० २/२ ३।)। बुद्ध ने उत्तर दिया—ये दस अकथनीय हैं। यदि बुद्ध ने आत्मा-परमात्मा-परलोक आदि माने होते और उनका स्वरूप वे जानते होते तो इन्हें अकथनीय कह कर टाल न देते, परन्तु

उनका स्वरूप बतलाते ।

संभवतः बौद्धो में मृत मांस के प्रचार पाने का यही कारण प्रतीत होता है कि उनके वहाँ आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व न मान कर पांच स्कन्धों का समूह रूप माना है ; जिससे कि देहावसान के पश्चात् प्राणी के मृत मांस को भक्ष्य मान लिया गया होगा ! जो हो।

परन्तु जैन तीर्थंकर भगवन्तों ने प्राणियों के मृत कलेवर को भी असंख्यात कीटाणुओं का पुंज मान कर सजीव माना है। और मांस मृत प्राणी के शरीर का होता है, फिर चाहे वह प्राणी किसी के द्वारा मारा गया हो अथवा अपने आप मरा हो, अतः मांस असंख्य जीवित कीटाणुओ का पुंज होने से उसका भक्षण करने से महान् हिसा का दोष लगता है, इस लिए जैन दर्शन ने इसे सर्वथा अभक्ष्य मान कर त्याज्य किया है। क्योकि जैनदर्शन मानता है कि आत्मा है, परमात्मा है, परलोक है, प्राणी अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार फल भोगता है ।

सारांश यह है कि श्रमण भगवान महावीर के जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो बातों मे आजाता है :—आचार मे पूर्ण अहिसा और तत्त्वज्ञान मे अनेकान्त, जिसके द्वारा उन्होने धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति कर भारत पर महान उपकार किया है, जो कि भारतवर्ष के मानसिक जगत में अब तक जागृत अहिसा, संयम और तप के अनुराग के रूप में जीवित है ।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध आत्मसाधना के एक ही पथ के दो पथिक थे। महात्मा बुद्ध अपने पथ से भटक गये और भगवान महावीर उस पथ को पार कर सफलता प्राप्त कर गये।

२—भगवान् महावीर की आज्ञा से औषध लाने वाले का आचार।

इस औषध को लाने की आज्ञा देने वाले श्रमण भगवान महावीर हैं और लाने वाले पांच महाव्रतधारी महान् तपस्वी मुनि श्री सिंह है, जो मनसा-वाचा-कर्मणा हिसा तथा मांस भक्षण के विरोधी है (देखे निर्ग्रन्थ श्रमण का आचार, स्तम्भ नं ३ मे); स्वयं अहिसा के महान् उपदेशक तथा स्वयं उसे आचरण में लाने वाले भी है । यदि उपदेशक किसी सिद्धान्त का

उपदेश तो करे, किन्तु उसे अपने आचरण मे न उतारे तो उस सिद्धान्त का और उस सिद्धान्त के प्रचारक का जनसमाज पर कोई प्रभाव नही पड़ता, [गौतम बुद्ध ने अहिंसा का प्रचार तो किया, किन्तु स्वय मासाहार का त्याग नही किया, फलत आज भी बौद्ध धर्मावलम्बियो मे मासाहार प्राय सर्वत्र प्रचलित है]। हम लिख आये हैं कि भगवान् महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया और साथ ही जीवन मे भी ओत-प्रोतकर अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन किया। फलत आज भी जैनधर्मावलम्बियो मे मत्स्य-मास-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन पूर्ण रूप से त्याज्य है।

जैन तीर्थङ्करो तथा निर्ग्रन्थ श्रमणो के आचारो को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी आदर्श अहिंसा के उपदेशक तथा प्रतिपालक सिंह नामक निर्ग्रन्थ श्रमण मासाहार न तो ला ही सकते थे और न ही श्रमण भगवान् महावीर उसे लाने की आज्ञा ही दे सकते थे।

३–औषध बनाने तथा देने वाली रेवती श्राविका का व्यवहारिक जीवन

मुनि सिंह उस औषध को किसी कसाई अथवा यज्ञस्थल से नही लाये थे और न ही किसी मासाहारी के वहाँ से लाये थे। वह तो उसे एक उत्कृष्ट जैन श्राविका (श्रमणोपासिका) के घर मे लाये थे, जिसका नाम था रेवती, जो कि एक धनाढ्य सेठ की भार्या थी।

इस रेवती का वर्णन प्राचीन जैनागम शास्त्रो मे इस प्रकार पाया जाता है।

१—"समणस्स भगवओ महावीरस्स सुलसा रेवइ पामुक्खाण समणोवासियाण तिन्नि सयसहस्सीओ अट्ठारस सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाण सपया हुत्था" (श्री कल्प सूत्र वीर चरित्रे)

२—"तएण तीए रेवतीए गाहावइणीए तेण दव्वसुद्धेण जाव-दाणेण सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे, जहा विजयस्स जाव जम्म-जीवियफले रेवती गाहावइणीए।"

(भगवतीसूत्र शतक १५)

३—"समणस्स ण भगवतो महावीरस्स तित्थम्मि णवहिं जीवेहिं तित्थयर-

रणाम-गोत्ते णं कम्मे णिव्वतिते, (१) सेणितेणं, (२) सुपासेणं, (३) उदातिणा (४) पोट्टिलेणं अणगारेण, (५) दढाउणा, (६) संखेणं, (७) सतगेणं, (८) सुलसाए, (९) साविकाते रेवतीते"।

(ठाणांग सूत्र सू० ६९१)

श्रीअभयदेवसूरिकृत टीका :—

"तथा रेवती भगवत औषधदात्री··········रेवती च वहुमानं कृतार्थमात्मानं मन्यमाना यथायाचित तत्पात्रे प्रक्षिप्तवती। तेनाप्यानीय तद् भगवतो हस्ते विसृष्टं। भगवतापि वीतरागतयैवोदरकोष्ठे निक्षिप्तं, ततस्तत्क्षणमेव क्षीणो रोगो जात." (ठाणाँग सूत्र पाठ की टीका)

अर्थात्—१—श्रमण भगवान् महावीर की सुलसा, रेवती प्रमुख तीन लाख अठारह हज़ार श्राविकाओं की उत्कृष्ट सख्या थी।

२—उनमे से गृहपति की भार्या रेवती श्राविका ने सिंह अनगार को शुद्ध द्रव्य दान देने से देवायु का वन्ध किया और जन्म-मरण रूप संसार का भी अन्त किया (मोक्ष प्राप्त करेगी)

३—श्रमण भगवान् महावीर के जीवनकाल में उनके तीर्थ में नौ प्राणियो ने तीर्थंकर नामगोत्र का वन्ध किया। जिनके नाम है—(१) श्रेणिक, (२) सुपार्श्व, (३) उदायी, (४) पोट्टिल अनगार, (५) दृढ़ायु, (६) शंख, (७) शतक, (८) सुलसा तथा (९) श्राविका रेवती।

इन मे से श्राविका रेवती, जो कि (निग्गंठ नायपुत्त) श्रमण भगवान् महावीर को औषध दान देने वाली थी। उस औषध दान देने के कारण उसने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया—यानी जिस कर्म के प्रभाव से अगले जन्म मे वह तीर्थंकर पद प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करेगी। ऐसी रेवती श्राविका ने अपने आप को कृतार्थ मानते हुए सिह मुनि (अनगार) के द्वारा मांगी हुई औषध को मुनि के पात्र में डाल दिया। उस मुनि ने भी (वह औषध) ला कर भगवान् के हाथों में रख दी। श्रमण भगवान् महावीर ने भी वीतरागता पूर्वक उसे खाया और उन का रोग शान्त हुआ।

हम तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने के लिये सोलह अथवा बीस भावनाओं का उल्लेख कर आये हैं। श्राविका रेवती की जीवनचर्या का अवलोकन करने से इन भावनाओं में से निम्न लिखित भावनाओं का सद्भाव दान देते समय उस में था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है —

१—दर्शन विशुद्धि, २—अर्हत् भक्ति, ३—शील तथा बारह व्रतों का पालन, ४—विनयसम्पन्नता, ५—त्याग (दान देना), ६—वैयावृत्य, ७—साधुसमाधिकरण, इत्यादि।

रेवती श्राविका के इस उपर्युक्त विवरण से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि —(१) वह एक श्रेष्ठ श्रमणोपासिका (१२ व्रत धारिणी श्राविका) थी। (२) निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) के लिये सिंह अनगार (निर्ग्रंथ) को शुद्ध द्रव्य से तैयार की गयी औषध का दान देने के प्रभाव से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। (३) मृत्यु उपरान्त देव लोक में गयी। (४) श्राविका उन प्रमुख श्राविकाओं में से एक थी, जो श्रमण भगवान् महावीर की तीन लाख अठारह हजार उत्कृष्ट श्राविकाएं थीं। इस पर से तथा स्तम्भ न० २ में हम श्रावक-श्राविकाओं के आचार का जो विवरण दे आये हैं उस पर से यह स्पष्ट जान सकते हैं कि ऐसे आचार वाली रेवती श्राविका मत्स्य-मांस-मदिरा इत्यादि सब प्रकार की अभक्ष्य वस्तुओं की स्वयं त्यागिनी थी, क्यों कि उसे अर्हत्-प्रवचन पर दृढ़ श्रद्धा थी और उसने बारह व्रतों को ग्रहण करते समय श्रावक के सातवें "भोगोपभोग परिमाण" व्रत में इन अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग कर दिया था। वह यह भी जानती थी कि न तो अर्हत्-प्रवचन में श्रावक-श्राविका को मांसाहार बनाने की आज्ञा है, न ही तीर्थंकर देव मांसाहार ग्रहण करते हैं, तथा निर्ग्रंथ श्रमणों को भी मांसाहार लेने एवं करने की मनाही है। कहने का आशय यह है कि सात कुव्यसनों की त्यागिनी तथा बारह व्रत-धारिणी होने के नाते मांस खरीद कर अथवा उठा कर न ला सकती थी, न पका सकती थी, और न ही स्वयं खा सकती थी। न ही निर्ग्रंथ मुनि तथा तीर्थंकर के लिये मांसाहार दे सकती थी, वह यह भी भली-भांति जानती

थी कि अर्हत् प्रवचन में मांसाहार को श्रमण भगवान् महावीर ने नरक का कारण बतलाया है। मांस खाने वाले, लाने वाले तथा बनाने वाले सब को घातक (कसाई) की कोटि में गिना है। तथा यह भी बात निःसन्देह है कि जो रोग निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान महावीर) को इस समय था, जिस रोग के शमन के लिये यह औषध दान दी गयी थी, उस रोग में मांसाहार अत्यन्त हानिकारक है।[1] ऐसे विचारो से सम्पन्न तथा श्राविका के श्रेष्ठ चारित्र (व्रतो) से अलंकृत रेवती श्राविका मांसाहार बनाए, वह स्वयं खाये अथवा परिवार को बना कर खिलाये, तीर्थंकर के लिये दे और मुनि को दान मे दे, यह कदापि संभव नही हो सकता। तथा मांसाहार के दान से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करे एवं मृत्यु उपरान्त देव गति प्राप्त करे, ये सब बाते जैन सिद्धान्त के तो विरुद्ध हैं ही। साथ ही इस रोग के लिये भी मांस हानिकारक होने से इस औषध दान को मासाहार के दान की कल्पना करना नितान्त अनुचित है।

श्रमण भगवान् महावीर जैसे महान् संयमी और महान् तपस्वी, जिन्हो ने तप और संयम की साधक अवस्था मे घोरातिघोर उपसर्गो तथा परीषहों को वीतराग भाव से सहन किया, नवकोटिक अहिंसा को अपनी आत्मा मे एकाकार करके विश्व के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया, ऐसे करुणासागर, महान् अहिंसक निग्गंठ नायपुत्त (भगवान वर्धमान-महावीर) न तो मांसाहार स्वीकार कर सकते थे और न ही सिंह-अनगार को लाने के लिये आज्ञा दे सकते थे।

१—इस बात का स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

मांसाहारी प्रदेशों में रहने वाले जैनधर्मावलम्बियों का जीवनसंस्कार तथा उनके प्रभाव वाले प्रदेशों में अन्य धर्मावलम्बियों पर उनका प्रभाव

१—भगवान् महावीर की आदर्श अहिंसा का ही यह प्रभाव है कि भूतकाल में अथवा वर्तमान भारत में मांसाहारी प्रदेशों में भी निवास करने वाले जैनधर्मावलम्बी आज भी कट्टर निरामिषाहारी हैं।

२—जो जातियाँ हजारों-सैकड़ों वर्ष पहले जैन धर्म को मानती थीं और बाद में निर्ग्रंथ श्रमणों के विहार उन प्रदेशों में न होने से सैकड़ों वर्षों से जैन धर्म को भूल कर अन्य सम्प्रदायों में मिल चुकी हैं, परन्तु उनके समाज को अपने पूर्वजों के जैन होने का ज्ञान है, वे सराकादि जातियाँ बंगाल-बिहार जैसे आज के मांसाहारी प्रदेशों में रहते हुए भी कट्टर निरामिषाहारी हैं। रात्रिभोजन की भी त्यागी हैं, मद्य मांस मत्स्य आदि सात कुव्यसनों की भी त्यागी हैं। भगवान् पार्श्वनाथ को अपना कुलदेवता मान कर उनकी पूजा-उपासना भी करती हैं, सदाचारी सद्गुणों के पालन में भी तत्पर रहती हैं, इसलिये इन्हें आज भी इस बात का गर्व है कि वे आज तक किसी भी फौजदारी अपराध में दंडित नहीं हुईं।

३—ऐसा जहाँ-जहाँ पर जैन धर्मावलम्बियों का आज भी प्रभाव है वहाँ रहने वाली वैष्णव, शैव आदि जातियाँ जो जैन धर्मानुयायी नहीं हैं वे भी कट्टर निरामिषाहारी हैं।

४—आज से हजारों सैकड़ों वर्ष पहले [illegible] जातियों का [illegible] जैन धर्म में अहिंसा [illegible] [illegible]

श्रीमाल, पोरवाल आदि वर्गों की स्थापना की, जो तब से लेकर आज तक कट्टर निरामिषाहारी हैं।

५——मारवाड, मेवाड, गुजरात आदि प्रदेशों मे जहां पर अनेक गीतार्थ निर्ग्रंथों ने जैनधर्म का अनेक शताब्दियों तक प्रचार किया, उनके उपदेशों के प्रभाव से इन सब प्रदेशो की अधिकतर जनता निरामिषाहारी है।

इस से निःसंकोच स्वीकार करना पड़ता है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (निग्गंठ नायपुत्त) की अहिंसा मे यदि मत्स्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थो के भक्षण करने की आज्ञा होती तो जैनधर्मावलम्बी तथा उन के प्रभाव वाले क्षेत्र मे भी आज मत्स्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ भक्षण करने की शिथिलता आये बिना कदापि न रहती।

अन्य तीर्थिको (जैनेतरो) द्वारा जैनधर्म सम्बन्धी आलोचना मे मासाहार के आक्षेप का अभाव

अपने-अपने सिद्धान्तो के प्रचार के लिए प्राय सभी धर्मावलम्बी अन्य धर्मों की उचित अथवा अनुचित आलोचना करते पाये जाते हैं। इसी भावना के कारण ही "न्याय-तर्क शास्त्रो का निर्माण हुआ। यदि जैन धर्मानुयायियो ने अन्य दार्शनिको की आलोचना की है तो अन्य दार्शनिको ने भी जैनधर्म की आलोचना की है।

१—बौद्धो ने जैनो की तपश्चर्या तथा अनेकान्त आदि सिद्धान्तो की गलत व्याख्याए करके इन सिद्धान्तो का अपने ढग से खण्डन किया है। किन्तु जैनो पर मत्स्य-मास-मदिरा आदि के खान-पान का अथवा उनका उपयोग करने का कही भी आक्षेप नही किया।

२—वैदिक विद्वानो ने जैनो के याज्ञिकहिंसा विरोध के बचाव के लिए उन पर ये तो आक्षेप किये हैं कि यदि यज्ञ मे की जाने वाली पशु-हिंसा, जो कि धार्मिक मानी जाती है पापमूलक है तो तुम जैन लोग उपाश्रय मदिर आदि निर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यो मे होने वाली हिंसा को अहिंसक रूप मे कैसे समावेश कर सकोगे ? इसके साथ ही स्याद्वाद आदि सिद्धान्तो की भी अपने ढग से व्याख्या करके कडी आलोचना की है। किन्तु उस समय के विद्वानो ने जैनो पर मत्स्य-मॉस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों के आहार करने का आक्षेप बिल्कुल नही किया।

३—यदि कोई ऐसा तर्क करे कि शायद जैनो का साहित्य अन्य धर्मावलम्बियो के हाथ मे न गया हो इसलिए जैनो के

वात उन्हे मालूम न होने से जैनों पर ऐसा आक्षेप न किया हो !

परन्तु प्रथम तो यह बात ही असंभव है कि जैनों के ग्रंथ किसी भी अन्य धर्मावलम्वी ने न देखे-पढ़े हो। बौद्ध पिटकों तथा अन्य संप्रदायो के धर्मग्रंथो से स्पष्ट पता चलता है कि अनेक निर्ग्रंथ श्रमणों ने जैनधर्म को त्याग कर अन्य सम्प्रदायो को अङ्गीकार किया। ऐसी अवस्था मे ऐसे लोगों ने जैन धर्म छोड़ने से पहले जैन शास्त्रो का पठन-पाठन, श्रवण आदि अवश्य किया ही होगा और निर्ग्रंथचर्या का पालन भी किया ही होगा। अतः वे लोग जैन आचार-विचारो से पूर्णरूपेण परिचित थे। जैनधर्म का त्याग करने के वाद जैनधर्म के प्रति उनका अनादर होना भी निश्चित है। ऐसी अवस्था मे यदि जैन तीर्थंकर, निर्ग्रंथ-श्रमण एवं श्रमणोपासकों के मांस-मत्स्यादिभक्षण करने का वर्णन जैनागमों में होता, अथवा वे ऐसा अभक्ष्य भक्षण करते होते, तो इसके लिए अन्य धर्मो को स्वीकार करने वाले जैनधर्म के विरोध मे अवश्य मांसाहार का आक्षेप करते।

दूसरी बात यह है कि इन तर्कवादियों की यह वात मान भी ली जाय कि जैनेतर विद्वानो के हाथ मे जैन शास्त्र न आने से वे उन शास्त्रों से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रहे, इसलिए वे लोग जैनधर्मियों के मांँसाहार करने की आलोचना न कर पाये। इस वात के उत्तर मे हमे इतना ही कहना है कि यह बात तो निःसंदेह ही है कि जैनधर्मावलम्बियो के आचरण से तो सब देशवासी परिचित थे। यदि जैनधर्मावलम्बियों में किसी भी समय किसी भी रूप में मांस-मत्स्याहार का प्रचलन होता तो वे जैनो पर इसका अवश्य आक्षेप करते।

४——इसी प्रकार प्राचीन अथवा नवीन जो भी जैनधर्म से अन्य धर्म-संप्रदाय है, उन सब ने जैन धर्म की कई बातों की आलोचना की होगी, आक्षेप भी किये होगे, किन्तु किसी भी धर्म-संप्रदाय के विद्वानों ने जैनों पर मांसाहार का आक्षेप कभी नही किया।

५——यदि भगवान् महावीर अथवा उनका निर्ग्रंथ-श्रमण युक्त चतुर्विध

मध मासाहारी होते (चाहे वह फिर अपवाद रूप से अथवा उत्सर्ग रूप मे हो) तो यह बात निश्चित है कि अन्य तीर्थिक जैनो पर मासाहार का आक्षेप किये बिना कदापि न रहते, वे अवश्य ही इसकी अवहेलना करते। क्यो कि हम देखते हैं कि एक पथ वाला अपने पथ के प्रचार के लिये दूसरे पथ के मामूली से दोष को पाने पर उसे बहुत बडे रूप मे बढा चढा कर अथवा ठीक और निर्दोष बात को भी उस की विपरीत व्याख्या कर लोगो के समक्ष विकृत रूप मे दिखाने के लिये कोई कसर बाकी उठा नही रखता, जिस से उस धर्म के प्रति घृणा पैदा करके जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया जा सके। ऐसा खडन-मडन प्राय प्रत्येक पथ के दर्शन शास्त्रो मे पाया जाता है। तथा अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि आचार सम्बधी भी आलोचना करके उस पथ के विरोध मे प्रचार किया जाता है।

ऐसा होते हुए भी तत्कालीन किसी भी धर्म-सप्रदाय वाले ने जैनो पर मासाहार का आरोप नही लगाया। इस से यह स्पष्ट है कि जैनो मे मासाहार का पूर्ण रूप से सदा निषेध चला आ रहा है। उन के इस पवित्र आचार मे सब लोग पूरी तरह से परिचित थे। ऐसी अवस्था मे उस समय यदि कोई गोपालदास पटेल या धर्मानन्द कोसाम्बी जैसा व्यक्ति ऐसा आक्षेप करने का दु साहस करता भी तो जनता मे उसकी प्रतिष्ठा जमने की बजाय उसे मिथ्या प्रलापी समझकर उसके प्रति अश्रद्धा हो जाना स्वाभाविक था। इस से यही फलित होता है कि जैन तीर्थंकर, निर्ग्रन्थ श्रमणादि चतुर्विध जैनसघ कदापि मासाहार नही करते थे।

(९)

तथागत गौतम बुद्ध की निर्ग्रन्थ अवस्था की तपश्चर्या में मांसाहार को ग्रहण न करने का वर्णन ।

हम इस निबन्ध के प्रथम खण्ड के नवमे स्तम्भ मे लिख आये हैं कि गौतम बुद्ध ने कुछ काल तक निर्ग्रंथ अवस्था मे रह कर निर्ग्रंथ परम्परा-मान्य तपश्चर्या को किया था। उसमें बुद्ध ने स्वयं कहा है कि मैं–१—मत्स्य-मांस-सुरा आदि वस्तुए नहीं लेता था। २—बैठे हुए स्थान पर दिये हुए अन्न को और ३—अपने लिये तैयार किये हुए अन्न को ग्रहण नहीं करता था, इत्यादि। (मज्झिम निकाय महासीहनाद सुत्त)

इससे यह फलित होता है कि १—यदि बुद्ध के समय निर्ग्रंथ परम्परा में मासाहार का प्रचार होता तो गौतम बुद्ध निर्ग्रथचर्या का पालन करते समय के वर्णन मे कदापि यह न कहते कि "मै मत्स्य–मांस–सुरा आदि का सेवन नही करता था"। २—क्योकि बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद तो बुद्ध तथा उनके भिक्षु मांसाहार करते थे, तब जैन आदि अन्य पंथो वाले, जो इन अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नही करते थे, वे बौद्धों पर इस शिथिलता के लिये आक्षेप भी किया करते थे। यदि निर्ग्रंथ परम्परा में मांसाहार का प्रचार होता तो गौतम बुद्ध अपने बचाव के लिये जैनो को उत्तर मे यह अवश्य कहते पाये जाते कि तुम भी तो मासाहार करते हो? किन्तु ऐसा आक्षेप बौद्ध ग्रंथों से कहीं भी उपलब्ध नही होता। ३—यदि निर्ग्रंथ परम्परा में मांसाहार का सर्वथा निषेध न होता तो सम्भवतः गौतम बुद्ध निर्ग्रथ धर्म को त्याग करने की आवश्यकता प्रतीत न करते। उन्होंने निर्ग्रन्थचर्या की इस कठोरता के पालन करने में अपने-आप को असमर्थ पाया; इसलिये उन्हें इस मार्ग को छोड़े विना अन्य कोई उपाय

नही था वे निग्रन्थो मे अलग हो कर ही मत्स्य-मास जैसी अभक्ष्य वस्तुओ का भक्षण कर सकते थे।

इस से यह स्पष्ट है कि निग्रन्थचर्या मे मासाहार की किंचिन्मात्र भी गु जाइश नही है।

बौद्ध, कापालिक, वेदधर्मनुयायी तथा अन्य अनेक सम्प्रदाय उस समय मास-मत्स्यादि भक्षण करने वाले थे, ऐसी अवस्था मे यदि कोई ऐसा तर्क करता हो कि जब अन्य धर्मावलम्बी मास-मत्स्यादि का आहार करते थे तो जैन इस से कैसे बच सकते थे ? यह दलील भी इन की युक्तिसगत नही है, क्योंकि उस समय अनेक अन्यमतावलम्बी तपस्वी भी जैनो के समान ही मासाहार नही करते थे और इस का पूर्ण रूप से निषेध करते थे, ऐसा हम बौद्धग्रथ सुत्तनिपात के चौदहवे आमगध सुत्त मे एक तपस्वी का काश्यप बुद्ध के साथ हुए सवाद मे जान सकते हैं। वैसे ही, जैन भी इन अभक्ष्य-भक्षणो से सदा अलिप्त रहे हैं। तथा मास-मत्स्य भक्षण के सर्वव्यापी प्रचार के इस युग मे, ऐसे गदे वातावरण मे, भी जैन समाज इस से सर्वथा बची हुई है यह हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्रमण भगवान् महावीर का रोग तथा उसके लिये उपयुक्त औषध ।

निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) को चार प्रकार के रोग थे—(१) रक्त पित्त, (२) पित्त ज्वर, (३) दाह, तथा (४) रक्तातिसार रोग थे । और ये रोग उन को केवली अवस्था मे हुए थे । जो कि उन के विरोधी गोशालक के द्वारा छोड़ी हुई तेजोलेश्या के स्पर्श से हो गया था । तेजोलेश्या में इतनी प्रवल दाहक शक्ति होती है कि उसके लपेट में जो आ जाता है वह भस्म हो जाता है। इसी लिये भगवान् महावीर को इसके स्पर्श मात्र के प्रभाव से ही ऐसा दाहक रोग हो गया था। इस रोग के उपचार के लिये कौन-सी औषध उपयुक्त हो सकती है इस का निर्णय करने से पहले हम पाठकों की जानकारी के लिये इस रोग के कारण, लक्षण तथा वृद्धि के कारण वतला देना चाहते है, ताकि हम जान सके कि निदान में चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से प्राण्यंग मांस भक्षण करना लाभकारी हो सकता है अथवा वनस्पति से तैयार की हुई औषध ?

१—रक्त-पित्त रोग का लक्षण, भेद तथा कारणः—

रक्तपित्तं त्रिधा प्रोक्तमूर्ध्वंग कफसंगतम् ।
अधोगं मारुताज्ज्ञेयं तद्द्वयेन द्विमार्गगम् ॥ १९ ॥

(सारंगधर संहिता प्र० खं० अ० ७)

अर्थात—रक्तपित्त तीन प्रकार का होता है–(१) ऊर्ध्वगामी, (२) अधोगामी, (३) उभयगामी (ऊपर व नीचे दोनों मार्गो से रक्त जाय)

ऊर्ध्वगामी—जिस रोग मे मुख, नाक आदि ऊर्ध्व मार्ग से रक्त गिरता है; वह कफ के सम्बन्ध से होता है ।

अधोमार्गगामी—जिस रोग मे गुदा, लिंग आदि अधोमाग से रक्त गिरता है, वह रोग वात के सम्बन्ध से होता है।

ऊपर और नीचे दोनो मार्गो से रक्त गिरने वाला रक्त-पित्त द्विमाग-गामी कहलाता है और वह वात और कफ इन दोनो कारणों से होता है।

इस प्रकार यह रोग तीन प्रकार का होता है।

रोग होने के कारण —

अग्नि के अधिक ताप से, धूप मे बहुत डोलने मे, अति परिश्रम करने से, बहुत माग चलने मे इत्यादि अनेक कारणो से रुधिर के बिगड जाने से, रुधिर ऊपर के अथवा नीचे के मार्ग मे अथवा दोनो मार्गों से होकर निकलता है उसे रक्तपित्त रोग कहते है।

इस रोग मे अपथ्य—खट्टे पदार्थ, खारे पदाथ, दही, ताम्बूल, कडवे पदाथ इत्यादि। (आयभिषक्)

२—पित्त ज्वर के लक्षण —सारे शरीर मे दाह, ज्वर का वेग तीव्र, तृषा, मूर्छा, अल्प निद्रा, मुँह कडवा, अतिसार इत्यादि।

(आय भिषक् पृ० ५१९)

३–दाह रोग के लक्षण —शरीर शुष्क तथा तप्त होना इत्यादि। यह रोग अग्नि द्वारा जलने अथवा झुलसने से, सूय के ताप मे फिरने से, गरम पदार्थों के सेवन से अथवा पित्त के प्रकोप वगैरह से अन्त र्दाह (शरीर के अन्दर की दाह) तथा बहिर्दाह (बाहर शरीर जलता है) अथवा दोनो दाह उत्पन्न होते हैं। इस के सात भेद हैं—(१) रक्तपित्त दाह, (२) रक्त दाह, (३) पित्त दाह, (४) तृष्णा दाह, (५) रक्त-पूर्णोदरदाह, (६) धातु दाह, (७) मर्मघात दाह।

इस रोग मे अपथ्य—रास्ते चलना, खारे तथा पित्तकर पदाथ खाना, गरमी लेना, गरम पदाथ खाना इत्यादि। (आयभिषक् पृ०५५०)।

४–रक्तातिसार—रक्त के साथ टट्टी आना, इसे मरोड भी कहते हैं।

अपथ्य—मल मूत्र अवरोध, कांशीफल, स्निग्ध भोजन, तथा भारी पदार्थ इत्यादि। (आर्यभिषक् पृ०४९१-९२)

यहाँ पर हमने भगवान् महावीर के रोग, उसके होने के कारण, लक्षण, तथा अपथ्य आदि का विस्तृत स्वरूप वर्णन कर दिया है; जिस का संक्षेप इस प्रकार है ।

गोशालक के तेजोलेश्या छोड़ने पर उस के तीव्र ताप के कारण भगवान् को अधोगामी रक्त-पित्त, तथा रक्तातिसार हो जाने के कारण खून की टट्टियाँ लग गयी थी । पित्तज्वर तथा दाहरोग भी थे, जिनके कारण तीव्र ज्वर तथा शरीर मे बहुत अधिक जलन भी थी । ये रोग गरम, स्निग्ध, भारी पदार्थ तथा खट्टे, खारे, कड़वे पदार्थों के सेवन मे बढ़ते है ।

हम यहाँ पर इस बात का विचार करेगे कि इस रोग मे मांसाहार लाभकारी है अथवा घातक ?

मांस के गुण और दोष--

> "स्निग्ध, उष्णं, गुरु, रक्त-पित्तजनक वातहरं च ।
> सर्वमांस वातध्वसि वृष्यं ।।"

अर्थात्---मांस स्निग्ध, गरम, भारी, रक्त-पित्त को पैदा करने वाला तथा वात को दूर करने वाला है । सब प्रकार के मांस वातहर तथा भारी है ।

यदि भगवान् महावीर के रोग का विचार करे तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि मुर्गे का मांस इस रोग को निवारण नही कर सकता, क्योकि मांस इस रोग को उत्पन्न तथा वृद्धि करने वाला है; यह आयुर्वेद शास्त्र का स्पष्ट मत है ।

अत: इस से यही फलित होता है कि भगवान् महावीर पर मांसाहार का दोष लगाना नितान्त अनुचित है ।

इस लिये रेवती श्राविका द्वारा इस औषध दान में जो द्रव्य दिया गया था वह कुक्कुट मास (मुर्गे का मांस) कदापि नहीं था, किन्तु कोई वनस्पति विशेष थी । यह औषध कौनसी थी इस का निर्णय हम आगे करेगे ।

विवादास्पद प्रकरण वाले पाठ मे आने वाले शब्दो के वास्तविक अर्थ

(१) मास शब्द की उत्पत्ति का इतिहास

प्रारम्भ मे मास शब्द किसी भी पदार्थ के गर्भ अर्थात् भीतरी सार भाग के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे यह शब्द मनुष्यादि प्राणधारियो के तृतीय धातु के अर्थ मे तथा वनस्पति जनित फल मेवो आदि के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा।

वैदिक धर्म के सर्वाधिक प्राचीन ग्रथ 'ऋग्वेद' मे पशुयज्ञो का तथा ब्राह्मणो के मास खाने का वर्णन नही है। वैदिक निघण्टु मे मास शब्द अथवा मास का कोई अन्य नाम नही मिलता। परन्तु उस समय मास था तो अवश्य। प्राचीन वेद तथा प्राचीन वैदिक काल मे इसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्राणी के अग रूप मास का किसी कार्य मे इस्तेमाल नही करते थे। इस लिये उनकी बनाई हुई वैदिक ऋचाओ मे मास शब्द नही आता था और न ही उसे वैदिक निघण्टु मे लिखने की आवश्यकता थी।

बाद मे ऋग्वेद मे कुछ सूक्त प्रक्षिप्त हुए, उन सूक्तो मे मास और क्रविप् ये दो शब्द पाये जाने लगे। अथर्ववेदसहिता मे मास शब्द के उपरात पिशित और क्रविप् शब्द मिलते हैं। यद्यपि वेद मे आम शब्द कच्चे माम को कहते हैं। परन्तु आचार्य यास्क के मत से वेद काल मे आम शब्द सामान्य मास मे प्रयुक्त होता होगा। जैन और बौद्ध सम्प्रदायो के प्राचीन सूत्रो मे आने वाले आमगन्ध शब्दो के 'आम' इस शब्द का मास के अर्थ मे ही प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है, कि आज से ढाई हजार

वर्प और इस से पहिले मांस, पिशित, आम और क्रविष् ये चार शब्द मास के अर्थ मे प्रयुक्त होते थे।

(२) मांस के नामों में वृद्धि

ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक मास के चार नाम ही प्रचलित थे। इन में से आम और क्रविष् वैदिक नाम होने के कारण लोकव्यवहार में से लुप्त हो गये, परन्तु मास के कुछ नये नाम भी प्रचलित हो गये, जिनका क्रमिक इतिहास इस प्रकार है। "अमर कोश" जो कि विद्यमान सब शब्द कोशों से प्राचीन है–पाचवी शताब्दी की कृति है—उसमें मांस के छः नाम मिलते है। इसके छः तथा सात सौ वर्ष बाद अथवा ग्यारहवी, बारहवीं, शताब्दी में होने वाले वैजयन्ती तथा अभिधानचिन्तामणि कोशों मे क्रमशः बारह तथा तेरह नाम सग्रह हुए हैः—

"मांसंपलल जांगले । रक्तात् तेजोभवेक्रव्यकाश्यर्प तरसामिषं ॥ ६२२। मेदस्कृत् पिशितं कीनं पलम् ॥

(अभिधानचिन्तामणि)

उक्त मांसादि नामो के अर्थो का विचार करने से स्पष्ट होता है कि मांस, जिसका अर्थ प्राणि-अग होता है, यह मनुष्य के खाने का पदार्थ नहीं था।

प्रत्येक नाम सदा के लिये एक ही अर्थ में प्रयुक्त नही होता। कई ऐसे नाम है जो प्रारंभ मे एकार्थक होते हुए भी हजारों वर्षो के बाद अनेकार्थक बन चुके है, जैसे–अक्ष, मधु, हरि आदि नाम। कई अनेकार्थक नाम हजारों वर्षो के बाद एकार्थक बन जाते हैं, जैसे मृग, फल, मांस आदि शब्दों के अर्थ गर्हित हो जाने के कारण उन अर्थो का त्याग हो जाता है। कोशकार अपने समय में जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है, सो उसी अर्थ का प्रतिपादक बताते हैं। लुप्तार्थो तथा भविष्यत् अर्थो की कल्पना में वे कभी नही पड़ते। ज्यों ज्यों जिस पदार्थ के नाम बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों आगे के कोशकार अपने कोश में संग्रह करते जाते है।

(३) वनस्पत्यग मांस आदि

जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणधारियो के शरीर मे (१) रस, (२) रुधिर, (३) मास, (४) मेदस् (५) अस्थि, (६) मज्जा, और (७) वीर्य—ये सात धातु हैं, उसी प्रकार अति प्राचीन काल मे वनस्पतियो के भी रसादि सात धातु माने जाते थे।

१—मनुष्यादि प्राणधारियो का शरीरावरण चर्म अथवा त्वचा कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पतियो के शरीर का आवरण भी चर्म अथवा त्वक् कहलाता है।[1]

२—मनुष्यादि प्राणधारियो के आहार से तैयार हुआ सत्त्व रस कहलाता है वैसे ही वनस्पतियो मे रहा हुआ जल भाग रस कहलाता है।[2]

३—प्राणधारियो के शरीर मे निष्पन्न तत्त्व रुधिर कहलाता है वैसे ही वनस्पतियो मे तैयार होने वाला स्राव उनका रुधिर कहलाता है।[3]

४—प्राणधारियो के रुधिर से बनने वाला ठोस पदार्थ मास कहलाता है वैसे ही वनस्पतियो से मिलने वाला सार भाग (गूदा) मास कहलाता है।[4]

१—शमी पलाश खदिर-बिल्वा-श्वत्थ-विकङ्कत न्यग्रोध-पनसा-म्र-शिरीषोदुम्बराणां सर्वयाज्ञिकवृक्षाणां चर्मकषायकल्कोनाऽभिषिञ्चति ××× (बोधायन गृहयसूत्र पृ० २५५)

अर्थात् शमी, पलाश, खदिर, बिल्व, अश्वत्थ, विकङ्कत, न्यग्रोध, पनस, आम्र शिरीष, उदुम्बर इन वृक्षो तथा अन्य सर्व याज्ञिक वृक्षो के चर्म (छिलके) के चूर्ण से मिले जल भरे कलश मे (विष्णुमूर्ति का) अभिषेक करें।

२—तस्मात्तदा तृणात्प्रति रसो वृक्षादि वाहतात् (बृहदारण्यकोपनि०)

अर्थात्—जिस प्रकार घाव पर प्रहार करने से रस निकलता है वैसे ही वृक्ष पुष्प के प्रहार से रस निकलता है।

३—त्वच एवास्य रुधिर प्रस्यन्दि त्वच उत्पट (बृहदारण्यकोपनि०)

अर्थात्—इसका रुधिर सार है जो त्वचा (छिलके) के भीतर से झरता है।

४—मज्जं स्नावा नारिकेलस्य (चरक सहिता)

५–प्राणधारियो के मांस से मेदम् (मेदो, किनाट) धातु बनता है, वैसे वृक्षों के अंग-प्रत्यंगों से मेदस् सदृश स्राव निकलता है, उसे वनस्पति का मेदो धातु कहते हैं ।[५]

६–प्राणधारियों के शरीर में रहने वाले कठोर भाग को अस्थि कहते हैं, वैसे वनस्पतियों के शरीर मे रहने वाले (गुठली-बीजों) को अस्थि कहते है ।[६]

७–प्राणधारियों की अस्थियों में होने वाले स्निग्ध पदार्थ को मज्जा धातु कहते है, वैसे फलों की गुठलियों तथा बीजो में से निकलने वाले स्निग्ध पदार्थ को वृक्ष की मज्जा कहते है ।[७]

८–प्राणधारियों के अतिम धातु को रेतस् अथवा वीर्य आदि नाम प्राप्त हैं, वैसे वनस्पतियो मे भी अमुक-अमुक प्रकार की शक्तियाँ रहती है । उनको शीतवीर्य, उष्णवीर्य, आदि नामो से कहते हैं ।[८]

९–प्राणधारियो के शरीर पर के रोम रोंगटे और सिर पर के रोम-बाल कहलाते है, वैसे ही वनस्पतियों के शरीर पर भी रोम तथा बाल

अर्थ–खजूर का मांस (गूदा) और नारियल का मास (गिरी) ।

५–मॉसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्रावतत् स्थितम् (बृहदार०)

अर्थ–भीतर के सार भाग के टूकड़े इसका मांस और स्निग्ध जमा हुआ स्राव इस का किनाट (मेदोधातु) है ।

६–अस्थिबीजानां शक्रुदालेप शाखिनां गर्त्तदाहो गोऽस्थि-शक्रुद्भिः काले दोहदं च । (कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ११८)

अर्थ–अस्थि (गुठली) और बीज वाले वृक्षों के बीजों को गोवर का लेप करके बोना चाहिये ।

७-८–वातादमज्जा मधुरा, वृष्या तिक्ताऽनिलापहा ।
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्तविकारिणाम् ॥१२५॥
(भावप्रकाश नि०)

अर्थ–बादाम की **मज्जा** (गिरी) मीठी, पुष्टि कारक, वायु को नाश करने वाली, रक्तपित्त के रोगियो को हानिकारक, स्निग्ध, **उष्णवीर्य,**

माने जाते हैं। [९]

१०—जैसे प्राणधारियों में ज्ञात होती है, वैसे फलों में भी आतें मानी गयी हैं। जिनके द्वारा फल में रहे हुए बीज के गिराओं, गूदे मेदस् को रस पहुंचता है, उन रेशों को वैद्य लोग अन्त्र कहते हैं। [१०]

सुश्रुत संहिता में इससे भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।

चूतफले परिपक्वे केशर मांसा ऽस्थि-मज्जान पृथक्-पृथक् दृश्यन्ते, कालप्रकर्षात्। तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्। तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां काल प्रव्यक्ततां करोति।

(सुश्रुत संहिता शा० अ० ३ श्लो० ३२)

अर्थ—पके आम के फलों में केशर, मांस, अस्थि, मज्जा प्रत्यक्ष

(गरा) और कफ करने वाली होती है।

९—स वा एष पशुरेवालभ्यते, यत् पुरोडाशस्तस्य किंशारूणि तानि रोमाणि, ये तुषा सा त्वक्, ये फलीकरणास्तदसृक्, यत् पृष्ठ किक्नसा, यत् सार तन्मांस, यत्किञ्चित् कसार तदस्थि, सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते तस्मादाहु पुराडाशसत्र लोकयमिति (द्वितीय पञ्जिका अ० पृ०११५)

अर्थ—यह पशु का ही आलभन किया जाता है, जो पुरोडाश तैयार करते हैं (उस में) यव व्रीहि पर जो किंशारू (तूस) होते हैं, वे इन के रोम हैं, इन पर जो तुष है वह इनका चम हैं, जो फलीकरण है वह इसका रुधिर है, जो पृष्ठ है वह इसकी गोड है, इसका जो कुछ सार भाग है वह मांस है इसका जो कसार (कड़ा या कठोर भाग) है वह अस्थि है, जो इस पुरोडाश से यज्ञ करता है, वह सब पशुओं से यज्ञ करता है। इस वास्ते पुरोडाश को लोकहितकारी सत्र कहते हैं।

१०—समुत्सृज्य ततो बीजान्, अन्त्राणि तु समुत्सृजेत।
तानि प्रक्षाल्य प्रक्षाल्य तोयेन प्रदव्यां निक्षिपेत पुरा ॥

(पाकदर्पण पृ० २५)

अर्थ—उसमें से बीज तथा आतें निकाल दे, फिर उनको धोवें और बाद में प्रदर्वी में रखे।

रूप से दिखलाई देते है। परन्तु कच्चे आम मे ये अंग सूक्ष्म अवस्था मे होने के कारण अलग-अलग दिखलाई नहीं देते। उन सूक्ष्म केशर आदि को समय व्यक्त रूप देता है।

४—मांसादि शब्दों के अंग्रेजी कोशकारों के अर्थ

मांस (सस्कृत)=1—Flesh. स्नायु का समूह।

2—The flesh of fish. मछली का मांस।

3—The fleshy part of a fruit. फल का गूदा, गिरी अथवा नरम भाग।

(आप्टेकृत संस्कृत-अंग्रेजी डीक्शनरी पृ० ७५३)

Flesh अर्थात्—मांस इस शब्द का अर्थ निम्न है—

1—The muscular part of animal.
प्राणी का स्नायु।

2—Soft pulpy substance of fruit.
फल का नरम भाग, गूदा।

3—That part of root, fruit etc, which is fit to be eaten.
कन्द, फल आदि में जो भाग खाया जा सके, वह भाग।

Stone—पत्थर इस शब्द का अर्थ निम्न है—

1—Stone of a mango.
आम की गुठली

2—Stone in bladder.
पत्थरी।

(English Dictionary by J. Ogilvie)

५—वर्त्तमान में माने जाने वाले प्राणीवाच्य शब्दों तथा मांस मत्स्यादि शब्दों के अनेक अर्थ

'पलल'—आजकल यह शब्द माँस का नाम माना जाता है, परन्तु

यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे कि —

"पलल तिलचूर्णं स्यामास कर्दमभेदयो ।" (वैजयन्ती)

अर्थ—पलल यह तिलचूर्ण का नाम है तथा मांस और कीचड के भेद में भी यह व्यवहृत होता है।

'अनिमिष'—शब्द से आजकल विद्वान केवल मत्स्य को ही समझ लेते हैं। परन्तु इसके पांच अर्थ होते हैं। जैसे कि —

"अथापरे झर्वे । अनिमेषोऽप्यनिमिषोऽप्यय चाडालशिष्ययो । स्यादन्तेवासीति ++ + ।" (वैजयन्ती)

अर्थ—अनिमेष तथा अनिमिष शब्द देव, मत्स्य, चाडाल, शिष्य और अन्तेवासी (निकटवर्ती आज्ञाकारी मनुष्य) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

'पेशी'—शब्द आजकल के विद्वानों के विचार में मांस के टुकड़ों अथवा मांस वल्ली के अर्थ में ही प्रचलित है। परन्तु वास्तव में इस के अनेक अर्थ होते हैं। सो ज्ञात करें—

"पेशी मांस्यसिकोशयो । मण्डभेदे पलपिण्डे सुपक्वकणिकेऽपि च ।" (अनेकार्थसंग्रह)

अर्थ—पेशी, तलवार की म्यान, पक्वान्न के भेद, मांस के पिंड, घृत पक्व कणिका—इतने पदार्थों के नाम हैं।

'शश'—शब्द सामान्य रूप में खरगोश के अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु यह शब्द दूसरे भी अनेक पदार्थों का वाचक है, जैसे कि—

"शश पशौ ॥५५८॥ बोले लोध्रे नृभेदे च ।" (अनेकार्थ)

अर्थ—शश—खरगोश पशु हीराबोल, लोध्र और पुरुष विशेष होता है।

'आमिष' शब्द का अर्थ वर्तमान समय में मांस किया जाता है, परन्तु इसके और भी अनेक अर्थ होते हैं, जैसे कि —

आमिषं पले ॥ १३३० ॥ सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगेलोभ-लञ्चयोः । (अनेकार्थ)

अर्थ—आमिष—मास, सुन्दराकार रूप आदि, सम्भोग, लोभ और रिशवत है।

'पल' शब्द का अर्थ आजकल एक तरह का तोल, काल विशेष और मास के अर्थ में प्रसिद्ध है। परन्तु पहले इसके निम्न अर्थ समझे जाते थे—

"पलः पलालो धान्यत्वक् तुषो वुसे कडंगरः" ॥ ११८२ ॥ (अभिधानचिंतामणि)

अर्थात्—पल, पलल, धान्य का छिलका, तुष और कडंगर ये भूसे के नाम है।

'अज' नाम से आज बकरा और विष्णु का अर्थ समझा जाता है, किन्तु इसके अर्थ स्वर्ण माक्षिक, धातु, पुराने धान्य, जो उगने की शक्ति नष्ट कर चुके हों, होते है। (शालिग्राम औषध शब्द सागर)।

ये सब उपर्युक्त उद्धरण देने का आशय यह है कि मॉस, मज्जा, अस्थि आदि शब्द जिस प्रकार प्राणियों के अंगों के लिये आते है उसी प्रकार वनस्पति के अंगों के लिये भी आते हैं। तथा जिन शब्दों का अर्थ हम प्राणी समझते है, उन शब्दों का प्रयोग वनस्पति और पक्वानों आदि खाद्य पदार्थो के लिये भी होता है। ऐसी परिस्थिति में लिखे गये शास्त्रो के विवरणों के अर्थनिर्णय में विद्वानो द्वारा गल्ती होना असंभव नही है। यही कारण है कि वेदों, जैनागमों तथा वौद्धपिटको में आने वाले तत्कालीन खाद्यपदार्थों के अर्थ में आने वाले शब्दो को प्रसंगों तथा परिस्थितियों का विचार किए विना अर्थ का अनर्थ करके आज कल के कतिपय विद्वानो ने अनेक प्रकार की विकृतिया घुसेड़ दी है।

अब हम इस विषय को लम्बा न करके यहा पर कुछ ऐसे शब्दों की सूचि देते है जिन के अर्थ वनस्पति और प्राणी दोनों होते है।

६—शब्द जो प्राणधारी और वनस्पति दोनो के वाचक है—

नाम	प्राणी-अर्थ	वनस्पति-अर्थ
रावण	लका का राजा	तदुल फल, इद्रायन
लक्ष्मण	राम का भाई	भ्रमरकटाली, जड
राम	दशरथ का बेटा	चिरायता
सुरप्रिया	देवी, देवागना	चमेली पुष्प
ब्रह्मा	चार मुह वाला ब्रह्मा	पलाश पापडा
विभीषण	रावण का भाई	वरकुल मूल
विष्णु	विष्णु अवतार	पीपल वृक्ष
लक्ष्मी	विष्णुपत्नी	काली मिरच
शिव	शकर	हरड
पार्वती	भवानी, शिवपत्नी	देशी हल्दी
कृष्ण	देवकीनन्दन	अजपीपल
कपि	बन्दर	शिलारस
आम	मास	आम फल
शश	खरगोश	लोध्र
बालक	बच्चा	मोथे
करभ	हाथी का बच्चा	धतूरे का वृक्ष
गोकर्ण	गाय का कान	अपराजिता
गो जिह्वा	गाय की जीभ	गोभी
गोशीर्ष	गाय का सिर	चदन
काक, काकशीर्ष	कौआ, कौए का सिर	अगस्त्य वृक्ष
तुरग	घोडा	मेधा नमक
पेशी	मासपिंड	जटामासी
महामुनि	बडा साधु	धनिया
मार्जार	बिल्ली	अगस्त्य वृक्ष, हिंगोटी वृक्ष, विदारीकन्द, लवग इत्यादि

राजपुत्र	राजकुमार	कलमीगोरा
वराह	सूअर	नागरमोथा
श्वदंष्ट्रा	कुत्ते की दाढ	गोखरू
विप्र	ब्राह्मण	पीपल का वृक्ष
जटायु	पक्षी विशेष	गुग्गुल
वानरी, मर्कटी,	बन्दरी	कौंच के बीज
वानरीबीज, कपि	बन्दर	कौंच के बीज
मांसफल	मास	बेंगन
कोकिला, कोकिलाक्ष	कोयल, कोयल की आंख	ताल मखाने
हस्तिकर्ण	हाथी का कान	लाल एरंड की जड
त्वक्	चमड़ी	छिलका
अस्थि	हड्डी	बीज, गुठली
भुजंग	सांप	नागकेसर
तरुणी	जवान स्त्री	गुलाब

७—वर्त्तमान काल में कुछ प्रचलित शब्द

शब्द	प्राणी वाचक	वनस्पतिवाचक
कुक्कुड़ी-कुक्कुड	मुर्गी, मुर्गा (पंजाब गुजरात)	भुट्टे (उत्तरप्रदेश)
भाजी	मांस (मुलतान-सिंध देश)	रांधा हुआ शाक
गलगल	गुट्टहार पक्षी	बीजोरा, फल विशेष
तरकारी	मांस (उत्तर पंजाब)	साग, सब्जी (राजस्थान)
चील	चील पक्षी (उत्तरप्रदेश)	चील शाक की भाजी
गीलहोड़ी	गिलहरी (उत्तरप्रदेश)	शाक

लज्जालु	स्त्री	छुई-मुई पौधा
पोपटा	विभत्स अग (मालवा)	हरा चना (गुजरात)
चूत	विभत्स अग	आम्र फल
छाल्ली	बकरी	भुट्टे (पजाब)

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग आज कल की चालू भाषा मे भी प्राणियो तथा वनस्पतियो दोनो मे होता है, एव प्राणियो के अगो तथा वनस्पतियो के अगो के लिए भी ऐसा ही है। तथा यह भी स्पष्ट है कि एक शब्द का अर्थ —देश, काल और भाषा आदि की अपेक्षा से भी भिन्न भिन्न हो जाता है। इस लिये सुज्ञ पुरुष वही है जो प्रसग, परिस्थिति, देश, काल, भाषा एव व्यक्ति के चरित्र आदि को समझ कर उसके अनुकूल अर्थ को स्वीकार करे।

८—श्रमण भगवान् महावीर और भक्ष्याभक्ष्य विचार

भगवतीसूत्र शतक १८ उद्देशा १० मे श्रमण भगवान् महावीर तथा सोमिल नामक ब्राह्मण का एक प्रसग आता है। उस मे वर्णन है कि एकदा भगवान् वाणिज्य ग्राम मे पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था। वह धनाढ्य, अपरिभूत सामर्थ्यवान् तथा ऋग्वेद आदि समस्त ब्राह्मण शास्त्रों का पारगत विद्वान था। वह पाचसौ शिष्यों तथा बहुत बडे कुटुम्ब का अधिपति था। एक दिन वह प्रभु महावीर के पास समवसरण मे आया और उसने अनेक कूट प्रश्न पूछे। उन में कुछ प्रश्न भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी भी पूछे, सो उसका विवरण इस प्रकार है —

[प्रश्न] [1]सरिसवा ते भते! कि भक्खेया, अभक्खेया? [उत्तर] सोमिला! सरिसवा [मे] भक्खेया वि अभक्खेया वि। [प्र०] से केणट्ठेण भते! एव वुच्चइ—'सरिसवा भक्खेया वि अभक्खेया वि? [उत्तर] से नूण ते सोमिला! बभन्नएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता,

---

१ 'सरिसव' द्विअर्थक प्राकृत शब्द है। इसका एक अर्थ सर्षप (सरसों) होता है और दूसरा अर्थ समानवयस्क मित्र होता है।

तं जहा मित्त-सरिसवा य धन्नसरिसवा य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-सहजायया, सहवड्ढियया, सहपंसुकीलियया, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–सत्थपरिणया य असत्थपरिणया य, तत्थ णं जे ते असत्थ-परिणया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–एसणिज्जा य अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–जाइया य अजाइया य। तत्थ णं जे ते अजाइया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–लद्धा य अलद्धा य। तत्थ णं जे ते अलद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया, से तेणठ्टेणं सोमिला! एवं वुच्चइ–जाव अभक्खेया वि'

अर्थात्—(प्रश्न) हे भगवन्! सरिसव को आप भक्ष्य मानते हैं अथवा अभक्ष्य? (उत्तर) हे सोमिल! सरिसव मुझे भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्रश्न) हे भगवन्! इसका क्या कारण है? (उत्तर) हे सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मण ग्रन्थों मे दो प्रकार का सरिसव कहा है, (१) मित्र सरिसव-समानवयस्क (२) और धान्य सरिसव। इस मे जो मित्र सरिसव है वह तीन प्रकार का है: (१) साथ जन्मा हुआ, (२) साथ मे पला हुआ, और (३) साथ में खेला हुआ। ये तीनों प्रकार के सरिसवा (समानवयस्क) मित्र श्रमण निर्गंथों को अभक्ष्य हैं। जो धान्य सरिसव है, वह दो प्रकार का है: शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत इस मे जो अशस्त्रपरिणत-अग्नि आदि शस्त्र से निर्जीव नही हुआ—वह श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य है। और जो शस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से निर्जीव हुआ) है वह दो प्रकार का है: (१) एषणीय-इच्छा करने योग्य, निर्दोष (२) अनेषणीय न इच्छा करने योग्य-सदोष। इस मे जो अनेषणीय है वह श्रमण निर्ग्रंथो को अभक्ष्य है। जो एषणीय सरसों है

वह दो प्रकार की है (१) याचित--मागी हुई (२) अयाचित-नही मागी हुई। इस मे जो अयाचित सरसो है वह श्रमण निर्ग्रंथो को अभक्ष्य है। जो याचित सरसो है वह भी दो प्रकार की है (१) प्राप्त हुई और (२) न प्राप्त हुइ। इस मे जो नही मिली वह श्रमण निग्र्रथो को अभक्ष्य है। जो सरसो श्रमण निग्रथो को मिल गयी हो माग वह भक्ष्य है। हे सोमिल! इस लिए मै कहता हूँ कि सरिसव भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

(प्र०) मासा ते भते! किं भक्खेया, अभक्खेया? (उ०) सोमिला! मासा भक्खेया वि अभक्खेया वि (प्र०) से केणट्ठेण जाव अभक्खेया वि? (उ०) से नूण ते सोमिला! बभन्नएसु नएसु दुविहा मासा पन्नत्ता, त जहा-दव्व-मासा य कालमासा य। तत्थ ण जे ते कालमासा ते ण सावणाईया आसाढ-पज्जवसाणा दुवालस पन्नत्ता, त जहा सावणे, भद्दवए, आसोए, कत्तिए, मग्गसिरे, पोसे, माहे, फग्गुणे, चित्ते, वइसाहे, जेट्ठामूले, आसाढे, ते ण समणाण निग्गयाण अभक्खेया। तत्थ ण जे ते दव्वमासा ते दुविहा पन्नत्ता, त जहा-अत्थमासा य धन्नमासा य। तत्थ ण जे ते अत्थमासा ते दुविहा पन्नत्ता, त जहा-सुवन्नमासा य रुप्पमासा य, ते ण समणाण निग्गयाण अभक्खेया। तत्थ ण जे ते धन्नमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तजहा-सत्यपरिणया असत्यपरिणया य-एव जहा धन्नसरसिवा जाव से तेणट्ठेण जाव अभक्खेया वि।

अर्थात्--(प्र०) हे भगवन्! 'मास भक्ष्य है कि अभक्ष्य? (उ०) हे सोमिल! मास भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्र०) हे भगवन्! यह किस कारण से आप कहते हैं कि 'मास' भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है? (उ०) हे सोमिल! ब्राह्मण ग्रथो मे 'मास' दो प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार--द्रव्य मास और काल मास। इन मे जो काल मास है वह सावन से लेकर आषाढ तक बारह महीने हैं, वे इस प्रकार--श्रावण, भादों, आसोज, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुण, चैत्र, वैसाख, जेठ, और आषाढ, ये श्रमण निर्ग्रंथो को अभक्ष्य हैं। इन मे जो द्रव्य मास है--वह भी दो प्रकार का है, सो इस प्रकार--अर्थ मास और

धान्य मास। उस मे जो अर्थ मास है, वह भी दो प्रकार—"स्वर्णमास और रौप्यमास। यानी चांदी का मासा, सोने का मासा (एक प्रकार के तोलने के वांट)। ये भी श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य है। जो धान्य माष (उड़द) है, वे भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से अचित्त हुए) और अशस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से अचित्त नही हुए—सजीव)। इत्यादि जैसे धान्य सरसो के लिये कहा वैसा धान्य माष (उड़द) के लिये भी समझ लेना। यावत्—वह इस हेतु से अभक्ष्य भी है।

यानी—अग्नि आदि से अचित्त उड़द भी दो प्रकार का है—एषणीय और अनेषणीय (साधु के निमित्त आदि से न रांधा हुआ निर्दोष और साधु के निमित्त से रांधा हुआ सदोष)। इस मे जो अ षणीय है वह श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य है। एषणीय उड़द भी दो प्रकार के हैं: याचित (मांगे हुए) अयाचित (न मांगे हुए)। इन में जो अयाचित रांधे हुए उड़द है वे श्रमण निर्ग्रथो को अभक्ष्य है। और जो याचित रांधे हुए उड़द है वे भी दो प्रकार के है—मिले हुए (प्राप्त), न मिले हुए (अप्राप्त)। इन में जो नही मिले ऐसे रांधे हुए उड़द श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य हैं। और जो रांधे हुए मांगने पर प्राप्त हो गये है, ऐसे निर्दोष उड़द श्रमण निर्ग्रंथों को भक्ष्य (खाने योग्य) है। हे सोमिल! इस कारण से 'मास' भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

(प्र०) कुलत्था ते भंते! किं भक्खेया, अभक्खेया ? (उ०) सोमिला! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि। (प्र०) से केणट्ठेण जाव अभक्खेया वि ? (उ०) से नूणं सोमिला! तं बंभन्नएसु नयेसु दुविहा कुलत्था पन्नत्ता, तं जहा—इत्थि कुलत्था य धन्नकुलत्था य। तत्थ णं जे ते इत्थिकुलत्था ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-कुलकन्नया इ वा कुलवहुया ति वा कुलमाउया इ वा, ते णं समणाणं निग्गंथाणं-अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा, से तेणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि। (भगवती शतक १८ उद्देशा १०)

अर्थात्—(प्र०) हे भगवन्! आप कुलत्था भक्ष्य मानते हैं अथवा अभक्ष्य? (उ०) हे सोमिल! कुलत्था भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्र०) हे भगवन्! किस हेतु से भक्ष्य है? किस हेतु से अभक्ष्य है? (उ०) सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मण शास्त्रों में कुलत्था दो प्रकार का कहा है—स्त्रीकुलत्था (स्त्री) और धान्यकुलत्था (कुलथी)। इसमें जो स्त्री-कुलत्था है वह तीन प्रकार का है, वह इस प्रकार—कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये सब श्रमण निर्ग्रंथों के लिये अभक्ष्य हैं। इस में जो कुलथी अनाज है, इत्यादि वक्तव्यता सरसों धान्य के समान जानना। इसलिये यह भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

यानी—अग्नि आदि से अचित्त, एषणीय, याचित, प्राप्त निर्दोष कुलथी अनाज ही श्रमण निर्ग्रंथों को भक्ष्य है। बाकी अन्य सब कुलत्था अभक्ष्य हैं।

सारांश यह है कि—भगवतीसूत्र में निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) ने—"सरिसव, मास तथा कुलत्थ" इन तीनों शब्दों के अर्थ प्राणिपरक, द्रव्यपरक तथा वनस्पतिपरक भी बतलाये हैं। उनमें से उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्राणिपरक तथा द्रव्यपरक आदि पदार्थ तीर्थंकरों तथा निर्ग्रंथ श्रमणों एवं श्रमणीयों के लिये सर्वथा अभक्ष्य हैं। वनस्पतिपरक पदार्थों में से भी जो वनस्पतियाँ अग्नि आदि के प्रयोग से निर्जीव हैं और यदि वे निर्ग्रंथ श्रमण के लिये तैयार न की गयी हों तो उनमें से आवश्यकता पड़ने पर निर्ग्रंथ श्रमण के मांगने पर प्राप्त हो गया हो ऐसा निर्दोष आहार निर्ग्रंथ श्रमण के लिये भक्ष्य है। अन्य सब प्रकार का आहार इनके लिये अभक्ष्य है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण भगवान महावीर तथा उनके निर्ग्रंथ श्रमण आमिषाहार कदापि ग्रहण नहीं कर सकते। तथा यह भी स्पष्ट है कि [illegible] शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उन अर्थों में से जिस प्रसंग पर जो अर्थ उपयुक्त है वही अर्थ करना समझदारी का काम है और ऐसा करने से ही उसकी विद्वत्ता की कसौटी होती है। अनुचित अर्थ [illegible]

विद्वत्ता के लिए शोभाप्रद नहीं है किन्तु विद्वत्ता को दूषित करने वाला है।

अब हम यहाँ पर 'विवादास्पद' सूत्रपाठ के वास्तविक अर्थ के लिये विचार करें।

९--भगवतीसूत्र का (विचारणीय) मूल पाठ इस प्रकार है :--

''तत्य णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोय-सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो । अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि । एएणं अट्ठो ।

(भगवतीसूत्र, शतक १५)

समर्थ शास्त्रज्ञ नवांगीटीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा की गयी इस सूत्रपाठ की टीका तथा इस का अर्थ इसी स्तम्भ ११ के विभाग क-ख अंगो मे विस्तृत लिख आये हैं; तथा इस अर्थ की पुष्टि मे अंग ग-घ-ङ मे उनके समकालीन तथा निकट भविष्य मे हो गये तीन आचार्यों के उद्धरण भी दे आये है। अब यहां पर इस पाठ के विवादास्पद शब्दों के वास्तविक अर्थ सप्रमाण लिखेगे।

इन शब्दों के इस स्थान पर संस्कृत अथवा अर्धमागधी शब्दकोश के प्रचलित अर्थ लेना उचित नही, क्योकि यहाँ तो वे औषध के रूप में इस्तेमाल (उपयोग) किये गये है। अत: इनके अर्थ वैद्यकीय शब्दकोशों से लेने उचित है। यदि इन शब्दों के अर्थ वनस्पतिपरक मिल जावे और वे वनस्पतियाँ इस रोग के निदान के अनुकूल हों तो अवश्य स्वीकार कर लेने चाहिये। सुज्ञ विद्वानों के लिये यही शोभाप्रद है।

हम यह स्पष्ट कर आये है कि प्राणिअंग-मास इस रोग का निदान कदापि नही हो सकता। वैद्यक शब्दकोश संस्कृत भाषा में उपलब्ध होने से नीचे लिखे विचारणीय शब्दों के संस्कृत पर्यायवाची शब्दों का जान लेना भी परमावश्यक है :--

इस सूत्रपाठ में निम्नलिखित शब्द विचारणीय हैं —

अर्धमागधी शब्द	संस्कृत पर्याय
दुवे कवोयसरीरा	द्वे कपोत-शरीरे
उवक्खडिया	उपस्कृते
नो अट्ठो	नैवार्थोऽस्ति
अन्ने	अन्यत्
पारियासिए	पर्युषित
मज्जारकडए	मार्जारकृत
कुक्कुड	कुक्कुट
मंसए	मांसक

१०—कवोय-कपोत क्या था ?

"कवोय" शब्द का अर्थ आज तक 'कबूतर पक्षी' समझा जाता है, परन्तु कपोत एक प्रकार की खाद्य वनस्पति है। वह पूरी की पूरी उपस्कृत हो सकती है और बहुत समय तक टिक सकती है। इसके सेवन से उष्णता, पित्तज्वर, रक्तविकार, रक्त-पित्त और अतिसार रोग शान्त होते हैं। कपोत और कपोत से बने हुए शब्दों के अर्थों में भिन्नता होती है। उसका ब्योरा इस प्रकार है —

१—कपोत—पारापत एक प्रकार की वनस्पति (सुश्रुत संहिता कल्पस्थान)

२—कपोत—पारीस पीपर (वैद्यक शब्दसिन्धु)

३—कपोत—कपोतिका—सफेद कोला, पेठा, कुष्माण्ड (निघण्टु-रत्नाकर)

४—कपोत—कबूतर पक्षी

५—कपोतक—सज्जी खार

६—कपोतांजन—हरा सुरमा (निघण्टुरत्नाकर)

७—कपोतचारी—नागकर्णी (भावप्रकाश)

८—कपोतपर्णी—इलायची

ग्राही, शीतल, रक्त-पित्तदोषनाशक। यदि पका हो तो अग्निवर्धक है।

(४) कबूतर पक्षी का मांस:—

"स्निग्धं ऊष्णं गुरु रक्तपित्तजनकं वातहरं च।
सर्वमांसं वातविध्वंसि वृष्यं॥

अर्थ— मांस स्निग्ध, गरम, भारी तथा रक्तपित्त के विकारों को पैदा करने वाला है, वात को हरने वाला है। सब मांस वातहर और वृष्य है।

यहाँ पर "कवोय" शब्द है चार अर्थों में से तीन अर्थ वनस्पतिपरक है तथा एक अर्थ मांसपरक है।

भगवान् महावीर स्वामी को रोग थे:—

(१) रक्तपित्त, (२) पित्तज्वर, (३) दाह, (४) अतिसार।

इन रोग को शान्त करने के लिए इन चारों पदार्थों मे से छोटा कुष्माण्ड (पेठा) फल ही औषधरूप लिया जा सकता था; क्योंकि इन मे से यही औषध इन रोगो को शान्त करने में समर्थ थी। परापत तथा पारीस पीपर ये दो वनस्पतिपरक औषधियां इस रोग को शात नहीं कर सकती थी। मांस तो इस रोग को पैदा करने वाला, वढ़ाने वाला है। अतः शेठ की भार्या रेवती श्राविका ने भगवान् महावीर स्वामी के रोग के शमनार्थ "दो छोटे पेठे के फल ही" संस्कार किये थे, इस में सन्देह को अवकाश नही।

प्राचीन चूर्णि तथा टीकाकारो ने भी "दुवे कवोयसरीरा[१]" का अर्थ "दो छोटे पेठे फल" ही किया है, यह हम पहले लिख आये हैं।

१." दुवे कवोयसरीरा"—ये तीन शब्द है। सरीरा शब्द 'कवोय' से निष्पन्न पुल्लिग वाले द्रव्य का द्योतक है। यदि यह 'सरीराणि' (नपुंसक लिङ्ग) शब्द का प्रयोग होता तो इसका अर्थ पक्षीशरीर पर लागू हो सकता था। क्योंकि "नपुंसक शरीर शब्द ही" प्राणी शरीर या मुर्दे के अर्थ में आता है, किन्तु शास्त्रकार को यह भी अभीष्ट नही था। अतः उन्होने यहाँ "शरीराणि" का प्रयोग न करके पुल्लिग मे "शरीरा" शब्द

क्योंकि जैन तीर्थंकर तथा निर्ग्रंथ श्रमण को उसके अपने निमित्त तैयार किये गये आहार आदि लेने की मनाही है। इस बात को भगवान् महावीर ने स्वय सोमिल ब्राह्मण के प्रश्न करने पर स्पष्ट कहा है कि निग्रन्थ-श्रमण के निमित्त तैयार किया गया आहार अनेषणीय है इस लिये अभक्ष्य है, इसका आहार साधु न ले। अत यह सदोष आहार होने के कारण भगवान् महावीर ने सिंह मुनि को लाने के लिए मना कर दिया। यह औषधि रेवती श्राविका ने भगवान् महावीर के लिये बनायी थी, भगवान् ने अपने केवलज्ञान द्वारा इस बात को जाना और कहा कि "अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार-कडए कुक्कड-मसए तमाहराहि। एएण अट्ठो।" अर्थात् दूसरा जो रेवती ने अपने लिए मज्जार-कडए कुक्कुड-मसए" तैयार करके औषध रख छोडी है वह लाना।

११—"मज्जार-कडए कुक्कुड-मसए" क्या था ?

(क) मज्जार—मार्जार

'मज्जार' शब्द का संस्कृत पर्याय 'मार्जार' है। इसका अर्थ आज-कल बिल्ली समझा जाता है।

का प्रयोग किया है और उसका अर्थ फल के साथ ही सम्बन्धित होने का द्योतक है। आगे आने वाला "अन्ने" शब्द भी पुल्लिग होने से इसी मत की पुष्टि करता है।

दूसरी बात यह है कि मास के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नही होता। विपाक सूत्र मे मास का वर्णन है, मगर किसी जातिवाचक सज्ञा के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु 'वनस्पति काय" इस प्रकार "वनस्पति शरीर" का प्रयोग सर्वत्र जैनागमो मे पाया जाता है।

इससे भी यह स्पष्ट है कि यहा पर सरीरा का सम्बन्ध वनस्पति के साथ ही है। इससे भी कबूतर के मास का अर्थ सिद्ध नहीं होता। अत स्पष्ट है कि यहाँ पर 'दो साबुत छोटे पेठा फलो का मुरब्बा अर्थ ही ठीक है।" क्योंकि मुरब्बा साबुत फलो का अथवा उन के अदर के गूद का डाला जाता है, जैसे साबुत आवलो का मुरब्बा डाला जाता है।

अर्थात्—लवंग कटु, तीक्ष्ण, लघु, चक्षुष्य, ठण्डा, दीपन, पाचक रुचिकर। कफ, पित्त, मल नाश करने वाला। तृष्णा (प्यास), वमन, आध्मानवायु, शूल के दर्द को शीघ्र नाश करने वाला। खांसी, श्वास, क्षय आदि रोगों को शीघ्र दूर करने वाला है।

वैद्यक ग्रंथ आर्यभिषक्-(शंकर दाजी पदे कृत) पृ० ३५९ में लिखा है कि :—

लवंग लघु, कडवा, चक्षुष्य, रुचिकर, तीक्ष्ण, पाककाले मधुर, उष्ण, पाचक, अग्निदीपक, स्निग्ध, हृद्य, वृष्य तथा विशद है; तथा **वायु**, पित्त, कफ, आम, क्षय, खांसी, शूल, आनाहवायु, श्वास, उचकी, वाँति, विष, क्षतक्षय, क्षय, तृष्णा, पीनस, रक्तदोष, आध्मान वायु को नाश करता है।

आर्यभिषक् फुट नोट पृ० ३५९—में लिखा है:—

लवंग पेट की पीड़ा का नाशक, प्यास वन्द करने वाला, उल्टी तथा वायु आदि को दूर करने के लिये औषध रूप मे दी जाती है।

इन सब उद्धरणों से तथा टिप्पनी में दिये गये उद्धरणों से स्पष्ट है कि "मार्जार" शब्द के वनस्पतिपरक अनेक अर्थ होते हैं। वायु तथा

मार्जार—रक्तचित्रक वृक्ष, लालचीता पेड़, खटास,
(हिन्दी विश्वकोश)

बिडाल—हरिताल, यष्टी गैरिक, सिन्धूत्थदार्वीताक्ष्यैः समांशकैः ॥
(वाचस्पति बृहत्संस्कृताभिधान)

मार्जार—ताक्ष्य-भूपाल-**मार्जार**-शलभाः स्युस्त्रिशङ्कवः ॥१२०७॥
मार्जारोऽपि पिशाचः स्याद् मारीचो याचकद्विजे ॥१३३९॥
(नानार्थरत्नमालायां त्र्यक्षरकांडः)

वरालक—Varalaka—cloves carissa carissa carandos aromatic Spice—लवंग, सुगन्धित मसाला।
(Sanskrit English Dictionary by Sir Monier Monier-Williams).

सटाश अर्थ भी होते हैं। इनके अतिरिक्त बिल्ली तथा अन्य अनेक निर्जीव पदार्थों के लिये भी मार्जार शब्द आता है।

(ख) मज्जारकडए[1] का क्या अर्थ है ?

मज्जारकडए–मार्जारकृत (सस्कृत)। (१) मार्जार नाम की वनस्पति से बनाया हुआ। (२) मार्जार से सस्कारित किया हुआ। (३) मार्जार की भावना दिया हुआ। (४) मार्जार नामक वायु को शमन करने के लिये बनाया हुआ। (५) मार्जार वनस्पति मे पकाया गया अथवा बनाया गया होता है।

(ग) कुक्कुड-कुक्कुट

कुक्कुट भी एक प्रकार की वनस्पति है, जो कि बहुत दिनो तक टिक सकती है। इसके सेवन से गर्मी, रक्तपित्त, पित्तज्वर, अतिसार आदि रोग शात होते हैं। उदाहरणार्थ कुक्कुट शब्द के कुछ अर्थ नीचे दिये जाते हैं —

१—"सुनिषण्णे सूचिपत्र स्वस्तिक शिरिवारक।
श्रीवारक शितिवरो वितुन्न कुक्कुट शिखी॥ (निघण्टुशेष)

अर्थ –(१) सूचिपत्र, (२) स्वस्तिक, (३) शिरिवारक, (४) श्रीवारक, (५) शितिवर, (६) वितुन्न, (७) कुक्कुट, (८) शिखि ये सुनिषण्ण के नाम हैं।

१—औषधि-विज्ञान मे सस्कारित वस्तुओ के लिये "दधिकृत", "राजीकृत", "मार्जारकृत" इत्यादि प्रयोग होता है। इसका अर्थ क्रमश "दही से सस्कारित", "राई मे सस्कारित", वरालिका (लवग) औषधि से सस्कारित होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ 'कडए' का अर्थ 'सस्कारित' और 'मज्जारकडए' का अर्थ मार्जार वनस्पति से सस्कार (भावना-पुट) वाला ठीक बैठता है। "कडए" शब्द मारने अथवा हनन करने के अर्थ मे प्रयोग किया हो, ऐसा सिद्ध नही होता।

"सुनिषण्णे हिमो ग्राही मोह-दोषत्रयापहः ।
अविदाही लघु स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः ।।
वृष्यो रुच्यो ज्वर-श्वास–मोह-कुष्ठ-भ्रमप्रणुत् ।। (भावप्रकाश)

अर्थ—सुनिपण्णक ठण्डा, दस्त रोकने वाला, मोह तथा त्रिदोप का नाशक, दाह को शांत करने वाला, हल्का स्वादिष्ट, कपायरसवाला, रूक्ष, अग्नि को वढाने वाला, वलकारक, रुचिकर, और ज्वर, श्वास, कुष्ठ तथा भ्रम का नाशक है।

२—कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी कुक्कुट शब्द का प्रयोग वनस्पति के अर्थ मे हुआ है। देखिये—

"कुक्कुट—कोशातकी-शतावरीमूलयुक्तमाहारयमाणो मासेन गौरो भवति।" (कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० ४१५)

अर्थ—कुक्कुट (विपण्णक–चौपत्तिया भाजी), कोशातकी (तुरई), शतावरी इन के मूलों के साथ महीना भर भोजन करने वाला मनुष्य गौर वर्ण हो जाता है।

३—कुक्कुट—शाल्मली वृक्षे (सेमल का वृक्ष) (वैद्यक शब्दसिंधु)।

४—कुक्कुट—वीजपूरकः (विजोरा) (भगवतीसूत्र टीका)।

५—कुक्कुट—(१) कोपण्डे, (२) कुरंडु, (३) सांवरी (निघण्टु रत्नाकर)।

६—कुक्कुट—घास का उल्का, आग की चिंगारी, शूद्र और निषादन की वर्णसंस्कार प्रजा (जै० स० प्र० क्र० ४३)

७—कुक्कुटी—कुक्कुटी, पूरणी, रक्तकुसुमा, घुणवल्लभी। पूरणी वनस्पति (हेमा निघण्टुसग्रह)

८—कुक्कुटी—मधुकुक्कुटी=(स्त्री) मातुलुंगवृक्षे जम्बीरभेदे अर्थात्—वीजोरे वृक्ष मे से जम्वीर फल (वैद्यक शब्दसिंधु टीका) (राज-वल्लभ)

(घ) मंसए-मासक (मास से बना हुआ)

हम पहले लिख चुके हैं कि "मास" शब्द के वनस्पति फलवग का गूदा आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

(१) मास (नपुसक लिंग) मास, गर्भ, फलगर्भ, गूदा, फाक।

(२) मासक (पुल्लिग) पाक, मुरब्बा, फलगभ से तैयार किया हुआ।

(३) मास—गरिष्ठ पक्वान्न (अनेकार्थसग्रह)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि —

(१) जो गरिष्ठ पक्वान खाद्य पदार्थ होते है, उनमे प्रथम नबर का खाद्य मास कहलाता था, जो घी, शक्कर, पिष्ट (पीठी) आदि से बनाया जाता था। उस में केशर तथा लाल चदन का रग दिया जाता था।

(२) पके मीठे फलो को छीलकर उनके बीज या गुठलिया निकाल कर तैयार किया हुआ फलो या मेवो का गूदा भी मास कहलाता था। "मास—फलगर्भे" अर्थात् फल का गूदा (वैद्यक शब्दसिन्धु)।

(३) प्राणीअग के तृतीय धातु का भी मास कहते थे।

(४) मास शब्द (फलो, मेवों, फलियो के) गभ, गूदे के लिये प्रयुक्त होता है।

(ङ) मार्जार और कुक्कुट वनस्पतिया कैसा अद्भुत औषधीय गुण रखती हैं यह निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होगा —

(१) मार्जार अर्थात् अगस्त्य तथा अगस्ति की शिम्बा के कैसे अद्भुत गुण होते हैं वह नीचे के श्लोक से विदित होगा —

"अगस्त्या वंगसेनो, मधुशिग्रुर्मुनिद्रुमः ।
अगस्त्यः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः ।
तत्पयः पीनसश्लेष्मपित्तनक्तान्ध्यनाशनम् ॥"

(मदनपाल निघण्टु)

अर्थ :—अगस्त्य वंगसेन, मधुशिग्रु, मुनिद्रुम इन नामों से पहचाना जाता है। अगस्त्य पित्त और कफ को जीतने वाला है। चतुर्थिक ज्वर को दूर करता है और शीतवीर्य है। इस का स्वरस प्रतिश्याय श्लेष्म रात्र्यान्ध्य नाशक है।

"मुनिशिम्बी सरा प्रोक्ता, बुद्धिदा रुचिदा लघुः ।
पाककाले तु मधुरा, तिक्ता चैव स्मृतिप्रदा ॥
त्रिदोषशूलकफहृत्, पाण्डुरोगविषापनुत् ।
श्लेष्म-गुल्महरा प्रोक्ता, सा पक्वा रूक्षपित्तला ॥"

(शालिग्राम निघण्टु)

अर्थ—अगस्ति की शिम्बा सारक कही है, बुद्धि देने वाली, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, हल्की, पाक काल में मधुर, तीखी, स्मरणशक्ति बढ़ाने वाली, त्रिदोष को नाश करने वाली, शूलरोग, कफरोग को हटाने वाली, विष को नष्ट करने वाली और श्लेष्म गुल्म को हटाने वाली होती है, परन्तु पकी हुई शिम्बा रूक्ष और पित्त करने वाली होती है।

(२) कुक्कुट अर्थात् सुनिषण्णक (चौपत्तिया भाजी), मधुकुक्कुटी अर्थात् जम्बीर फल आदि है; इनके गुणदोषों का विवरण इस प्रकार है :—

(कुक्कुट) "सुनिषण्णो हिमो ग्राही मोहदोषत्रयापहः ।
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः ॥
वृष्यो रुच्यो ज्वर-श्वास-मेह-कुष्ठ-भ्रम प्रणुत् (भावप्रकाश)

अर्थ—सुनिषण्णक (चौपत्तिया भाजी) ठण्डी, दस्त रोकने वाली, मोह तथा त्रिदोष को नाश करने वाली, दाह को शांत करने वाली, हल्की, स्वादिष्ट, कषाय रस वाली, रूक्ष, अग्नि को बढ़ाने वाली, बल तथा रुचिकारक, ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ और भ्रम को नाश करने वाली है।

इसी प्रकार अन्य निघण्टुकार भी सुनिषण्णक के गुणों का ऐसा ही वर्णन करते हैं।

(३) मधुकुक्कुटी[1] (मातुलुंग वृषे जम्बीरभेदे) फल के गुणदोष-यहाँ पर मधुकुक्कुटी शब्द का अर्थ जम्बीर फल लिया है। जम्बीर फल बीजोरे का एक भेद है। बीजोरा संगतरे (सन्तरे) की जाति के अनेक प्रकार के फल होते हैं। बीजोरे की नामावली अमरकोश में इस प्रकार दी है —

मातुलो मदनश्चास्यफले मातुलपुत्रक।
फलपूरो बीजपूरो रुचको मातुलुङ्गके॥
समीरणो मरुबक प्रस्थपुष्प फणिज्जक।
जम्बीरोऽप्यथ पर्णासे कठिञ्जरकुठरकौ॥ (का २ वनौ०)

---

१ विवादास्पद मूल पाठ में 'कुक्कुट' शब्द आया है। बीजोरे के लिये मधुकुक्कुटी अथवा मधुकुक्कुटिका शब्द का प्रयोग हुआ है। सो यहाँ पर कुक्कुट शब्द से बीजोरा शब्द क्यों स्वीकार किया है, इसे यहाँ पर स्पष्ट करने की आवश्यकता है —

'कुक्कुट' शब्द का स्त्री लिंग 'कुक्कुटी' होता है तथा इस कुक्कुटी शब्द पर से 'मधुकुक्कुटी' शब्द बनता है। इस 'मधुकुक्कुटी' शब्द में 'मधु' का अर्थ मीठा होने से विशेषण होता है। यह विशेषणवाची शब्द छोड़ कर 'कुक्कुटी' शब्द रह जाता है। कुक्कुट, कुक्कुटी और कुक्कुटिका पर्याय-वाची शब्द हैं। ये तीनों पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक शब्द हैं। (१) हम वैद्यक ग्रंथों में देखते हैं कि विशेषण सहित तथा विशेषण बिना शब्द पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक हैं। जैसे —

(१—नागकेशर) चाम्पेय केशरो नागकेशर कनकाह्वय।
महौषध राजपुष्प फल्गु स्वरधातन॥
(शालिग्राम निघण्टु कर्पूरादि वर्ग)

(२—जटामासी) जटामांसी जटी पेषी लोमशा जटिलामिषि।
मासी तपस्विनी हिंस्रा मिषिका चक्रवर्तिनी॥

(३—पिप्पलीमूल) मूलं तु पिप्पलीमूलं ग्रन्थिक चटकाशिर।
कणामूल कोलमूल चटिका मगधाग्रिकम्॥

(४–समुद्रफेन) समुद्रफेनः फेनश्च डिण्डिरोऽब्धि कफस्तथा ।
(शालिग्राम निघण्टु हरीतक्यादि वर्ग)

(५–मुल्हठी) मधुयष्टिर्यष्टिमधुर्यष्ट्याह्वा क्लीतका स्मृता ।
मधुकं यष्टिमधुक यष्टिका मधुयष्टिका ॥

(६–काकडाशिगी) कर्कटशृंगिका शृंगी कुलिङ्गी कासनाशिनी ।
महाघोषा च चक्राङ्गी कर्कटी वनमूर्द्धजा ॥

(७–भांग) शक्राशनं तु विजया त्रैलोक्यविजया जया ।
(शालिग्राम निघण्टु अष्टवर्ग)

(८–अरणी) अग्निमन्थो हविर्मन्यः कर्णिका गिरिकर्णिका ।
जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका ॥

(९–शतावरी) शतमूली महाशीता भीरुपत्री शतावरी ।
महाशतावरी त्वन्या शतवीर्य्या महोदरी ॥
(शालिग्राम निघण्टु गुडूच्यादि वर्ग)

(१०–द्राक्षा) द्राक्षा मधुरसा-स्वाद्वी कृष्णा चारुफला रसा ।
मृद्वीका गोस्तनी चैव यक्ष्मघ्नी तापसप्रिया ॥

(११–पीलु) पीलुः शीतसहा स्रंसी धानी गुडफलस्तथा ।
विरेचनफलः शाखी श्यामः करभवल्लभः ॥
अन्यश्चैव बृहत्पीलु-र्महापीलुर्महाफलः ।
राजपीलु-र्महावृक्षः मधुपीलुः पडाह्वयः ॥

(१२–ताड़) तालस्तु लेख्यपत्रः स्यात् तृणराजो महोन्नतः ।
श्रीतालो मधुतालश्च लक्ष्मीतालो मृदुच्छदः ॥
(शालिग्राम निघण्टु फलवर्ग)

उपर्युक्त १२ उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि विशेषण रहित, तथा विशेषण सहित नाम चिकित्साशास्त्र मे पर्यायवाची होने से समानार्थक है। अतः मधुकुक्कुटी, मधुकुक्कुटिका तथा कुक्कुटी भी पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक है इसमे सन्देह को किञ्चिन्मात्र भी स्थान नही है। यथा श्लोक नं० ५ मे मुल्हठी के लिये 'मधुयष्टि शब्द आया है और यष्टि शब्द भी आया है। यहाँ 'मधु' विशेषण को छोड़ कर अकेले 'यष्टि' शब्द का भी मुल्हठी अर्थ ही लिया है।

(२) तथा प्राणिवाचक पर्यायशब्द जब वनस्पति के लिये प्रयुक्त होते हैं तब प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का वनस्पति में समानार्थ ही किया जाता है। जैसे कि (क) 'वानरी' का अर्थ वन्दरी है और 'कपि' का अर्थ वन्दर है। पहला शब्द स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिंग है। परन्तु दोनों का अर्थ वनस्पतिपरक "कौंच के बीज" होता है। (ख) 'कोकिलाक्ष' का अर्थ-'कोयल पक्षी की आँख' होता है तथा 'कोकिला' का अर्थ 'कोयल पक्षी' होता है। परन्तु ये दोनों पर्यायवाची शब्द वनस्पतिपरक अर्थ में बनकर एक अर्थ के सूचक हो गये हैं। इनका एक ही अर्थ 'तालमखाने' होता है।

अब हम यहां पर कुछ और भी उद्धरण दे कर स्पष्ट कर देना चाहते हैं —

(१—कुक्कुट) (पुल्लिग)—कुक्कुट शाल्मली वृक्षे (सेमल का वृक्ष)
(वैद्यक शब्दसिंधु)

(२—कुक्कुटी) स्त्रीलिंग—
शाल्मली तूलिनी मोचा पिच्छिला चिरजा विता।
कुक्कुटी पूरणी रक्तकुसुमा घुणवल्लभा ॥ ६७ ॥
(निघण्टुशेष)

उपर्युक्त उद्धरणों से हम देखते हैं कि कुक्कुट तथा कुक्कुटी दोनों का लिंगभेद होते हुए भी वे वनस्पतिपरक अर्थ में पर्यायवाची हैं। दोनों का अर्थ शाल्मली वृक्ष (सेमल का वृक्ष) स्वीकार किया गया है।

(३—करोंदा) करमर्दो वने क्षुद्रा कराम्ल: करमर्दक।
तस्माल्लघुफला या तु सा ज्ञया करमर्दिका ॥
(शालिग्राम निघण्टु फलवर्ग)

(४—झिंगी) झिञ्झिनी झिंगिनी झिंगी मुनिपर्णा प्रगोलिनी।
(शालिग्राम निघण्टु वटादिवर्ग)

उ० ३-४ उद्धरणों में भी 'करमर्द' पुल्लिङ्ग है तथा 'करमर्दिका' स्त्रीलिंग है। एवं "झिंगिनी" स्त्रीलिंग है और 'झिंगी' पुल्लिंग है, दोनों पर्यायवाची बनकर समानार्थक हैं।

अतः कुक्कुटी मधुकुक्कुटी, मधुकुक्कुटिका और कुक्कुट ये सब शब्द पर्यायवाची होने से समानार्थक हैं। इस लिये यहां पर कुक्कुट शब्द का अर्थ बिजौरा है। यह स्पष्ट निःसन्देह सुनिश्चित है।

बीजोर फल की अनेक जातियों में से कुछ भेदों में से गुण दोपों का वर्णन करते है :—

(१) बीजोरा (किव) फल—

श्वासकासाऽरुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ।। १४८ ।।
लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम् ।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ।। १४९ ।।
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसमारुतपित्तजित् ।।१५० ।।

(सुश्रुत संहिता)

अर्थ—किव जाति का बीजोरा फल—तृष्णाशामक, कण्ठशोधक श्वास, खाँसी, अरुचि को मिटाने वाला, लघु, दीपक और पाचक है।

त्वक् (छिलका) तिक्त, दुर्जर, वात, कृमि तथा कफ को शमन करने वाली है।

मांस (गूदा)—वात-पित्त को नाश करने वाला है।

(२) बीजोरा—मधुकर्कटी (चिकोतरा) फल—

बीजपुरो मातुलुंगो रुचकः फलपूरकः ।
बीजपूरफलं स्वादु, रसेऽम्लं दीपनं लघु ।। १३१ ।।
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम् ।
श्वासकासाऽरुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ।। १३२ ।।
बीजपूरोऽपरः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ।।
मधुकर्कटिका स्वाद्वी रोचनी शीतला गुरुः ।। १३३ ।।

(भावप्रकाश)

अर्थ—चिकोतरा जाति का बीजोरा फल—रक्तपित्तनाशक है, कंठ-जिह्वा-हृदय शोधक है, श्वास-कास तथा अरुचि का दमन करता है तथा तृष्णा हर है। इस बीजोरे को दूसरे लोग मधुर मधुकर्कटी अथवा मधु-कर्कटिका भी कहते है।

(३) बीजोरा–मधुकुक्कुटी (जम्बीर) फल–

मधुकुक्कुटिका, मधुकुक्कुटी (स्त्रीलिंग) मातुलुङ्ग वृक्षे जम्बीर-भेदे। (वैद्यक शब्दसिन्धु)

मधुकुक्कुटिका शीता श्लेष्मला अप्रसादिनी।
रुच्या स्वादुर्गुरु स्निग्धा वात-पित्तविनाशिनी॥

तत् फल––तच्च फल बाल वात-पित्त-कफ-रक्तकरम्।

मध्य फल––तादृशमेव।

पक्व फल––वर्णकर हृद्य पुष्टिकर बलकर शूलहर।
अजीर्णनाशन विबन्ध वातपित्तश्वासाग्निमान्द्यहरं
कासाऽरोचकशोफघ्नञ्च॥ (वैद्यक शब्दसिन्धु)
पक्व तत् मधुर कफदमन रक्त पित्तदोषघ्न वर्ण्यम्।
वीर्यवर्धनं रुचिकृत पुष्टिकृत् तर्पणञ्च॥
(राजनिघण्टु तथा वैद्यक शब्दसिन्धु)

अथ–मधुकुक्कुटी (जम्बीर) शीतल, श्लेष्म करने वाला, रोचक, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, वात् पित्त को नाश करने वाला है।

जम्बीर फल–कच्चा फल वात-पित्त कफ तथा रक्त के दोषों को उत्पन्न करने वाला है। अधपका फल भी कच्चे फल के समान दोषों को करने वाला है।

तथा इसका पका फल सुंदरता बढ़ाने वाला, पुष्टिकर, बलकर शूल की पीडा का शामक, अजीर्णनाशक, दस्तों को रोकने वाला, वात पित्त, श्वास, अग्निमांद्य को दूर करने वाला, खांसी, अरुचि, सूजन का नाश करने वाला है।

तथा पका हुआ मीठा फल कफ का दमन करने वाला, रक्त पित्त के दोषों को नाश करने वाला, वर्ण का निखारने वाला, वीर्य को बढ़ाने वाला, रुचिकर, पुष्टिकर तर्पण करने वाला है।

तन्मॉसं-गर्भं (गूदा)

बृंहणं शीतलं गुरुं रक्तपित्तजितञ्च। (च० द० पि० ज्व० चि०)

अर्थ--जम्बीर फल का गूदा—शीतल, गुरु, रक्तपित्त को नाश करने वाला है।

आर्यभिषक्--वनौषधि गुणादर्श (पृ० ४१२) गुजराती ग्रंथ मे मधु-कुक्कुटी (जम्बीर) फल के गूदे के गुणो का इस प्रकार वर्णन है—

"मधुर, ग्राहक, कड़वा, शीतल, वातकर, तुरा, पुष्टिकारक तथा बल-कारक है। कफ, रक्तपित्त विकार तथा प्रदर को नाश करता है।"

सारांश यह है कि जम्बीर जाति के बीजोरे का कच्चा तथा अवपका फल रक्तपित्त रोग मे अत्यन्त हानिकारक है एवं इस का पका फल रक्तपित्त, दाहज्वर, पित्तज्वर आदि रोगो में लाभदायक है।

पके मीठे फल का गूदा तो इस रोग मे अत्यन्त लाभदायक है।

हमने उपर्युक्त तीन प्रकार के बीजोरा फलों के गुण-दोषों का वर्णन किया है।

(१) किव जाति का बीजोरा वात-पित्तशामक होने से इस रोग में लाभदायक नही है। (२) चिकोतरा जाति का बीजोरा इस रोग में लाभदायक है तो सही परन्तु इसका दूसरा नाम मधुकर्कटी होने से मधुकुक्कुटी का पर्यायवाची नही है, क्योकि यदि दोनों का मधु विशेषण हटा दिया जावे तो कर्कटी एवं कुक्कुटी शब्द रह जाते है। यदि इन दोनों शब्दो का मांसपरक अर्थ किया जावे तो प्रथम का अर्थ केकड़ा, जो कि जल मे रहने वाला एक प्राणी है, तथा कुक्कुटी का अर्थ मुर्गी होता है। इसके पुल्लिग 'कुक्कुट' का अर्थ मुर्गा होता है। दोनो का भिन्न अर्थ होने से यही मानना ठीक है कि—"भगवतीसूत्र के विवादास्पद पाठ" में जो "कुक्कुड (कुक्कुटो)" शब्द आया है उससे मधुकुक्कुटी अर्थात् जम्बीर फल अर्थ लेना ही उचित है। (३) मधुकुक्कुटी—जम्बीर जाति बीजोरे का मीठा पका फल तथा इस का गूदा रक्तपित्त मे सब जाति के बीजोरों से अधिक तथा अत्यन्त लाभदायक है।

इतने विवेचन के बाद "कुक्कुट" शब्द के नीचे लिखे अर्थों वाले पदार्थों पर पुन विचार करते है —

(१) कुक्कुट—सुनिषण्णक शाक (भावप्रकाश)

(२) कुक्कुट—मधुकुक्कुटी—जम्बीर फल (वैद्यक शब्दसिंधु जैनागम भगवतीसूत्र)

(३) कुक्कुट—शाल्मली—सेमल वृक्ष (वैद्यक शब्दसिंधु, भावप्रकाश निघण्टु)

(४) कुक्कुट—मुर्गा, वत्तक मुर्गा

(५) कुक्कुट मास—मुर्गे का मास

यहा पर हमने मार्जार तथा कुक्कुट शब्दों के वनस्पतिपरक तथा मासपरक पदार्थों के गुण-दोषो का वर्णन कर दिया है। अब हमने यहाँ पर यह निर्णय करना है कि विवादास्पद सूत्रपाठ मे वर्णित भगवान महावीर ने अपने रोग के शमनार्थ इनमें से कौनसी औषध ग्रहण की थी। इनमे से प्राणिअग मास लाभदायक हो सकता था अथवा वनस्पति अग मास (गूदा)। यदि वनस्पतिपरक वस्तु लाभदायक थी तो कौनसी वस्तु औषध रूप मे ग्रहण की गई थी।

कुक्कुट[1]=१—सुनिषण्णक नाम चारपत्तियो वाला शाक।

१—कुक्कुट तथा इसके पर्यायवाची शब्दो के अर्थ—

(क) कुक्कुट=सुनिषण्णक, वितुन्नक, चौपत्तियाभाजी। (निघण्टुकोष, कौटिलीय अर्थशास्त्र) शाल्मली वृक्ष (वैद्यक शब्दसिंधु) बीजोरा (भगवतीसूत्र टीका) (चौपड, कुरड, मावरी (निघण्टु रत्नाकर) आग का उल्का, आग की चिंगारी, शूद्र और निषाद की वर्णसकर प्रजा (वाच०)।

(ख) कुक्कुटी—कुक्कुटी, पूरणी, रानकुसुमा, घणवल्ली (हेम निघण्टुसग्रह)

(ग) मधुकुक्कुटी—मातुलुंगे, जम्बीर (वैद्यक शब्दसिंधु)

२—शालमली=सेमल वृक्ष
३—मातुलुंग=बीजोरा (जम्बीर)
४—मुर्गा

(१) यहां "कक्कुट" का पहला अर्थ—'सुनिषण्णक' नामक शाक भाजी है। यह शाक इस रोग में लाभदायक है अवश्य। यदि यहाँ पर इस शाक की औषधि लेना मान ले तो यहां पर "मज्जार" का अर्थ 'खटाश' लेना चाहिये। क्योंकि 'खटाश' डाल कर भाजी का शाक बनाया जाता है। भाजी का शाक 'दही' डालकर खट्टा करने का रिवाज सब जानते है। अर्थात् खटाश की जगह 'दही' लेने से दस्तों की तथा पेचिश की बीमारी में लाभदायक है अवश्य, परन्तु भगवान महावीर के रोग के लिये हानिकारक थी। क्योंकि भगवान् को पेचिस तथा दस्तों के साथ दाह और पित्तज्वर भी था। ज्वर मे दही हानिकारक है। तथा दूसरी बात यह है कि भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने सिंह मुनि से इस औषधि के लिये कहा था कि "पहले से तैयार करके जो औषध रखी है उसे लाना"। सो दही की खटाश डाल कर बनाया हुआ शाक अधिक दिनों तक रख देने से बिगड़ जाता है और खाने लायक नहीं रहता। एवं इस कुक्कुट शब्द के साथ 'मंसए' शब्द है। मंसए शब्द का अर्थ है गूदा परन्तु शाक का गूदा नहीं होता। इसलिये यह शब्द शाक भाजी के अर्थ में घटित नही हो सकता। इससे फलित होता है कि यह औषध भगवान् महावीर ने नहीं ली।

(२) दूसरा अर्थ है—'शालमली' अर्थात् सेमल का वृक्ष होता है। इस वृक्ष का फल होता है तथा इसमें गूदा भी होता है। परन्तु इसका गूदा गर्म होने से इस रोग में लाभदायक नही है। अतः यह अर्थ भी यहां घटित नही हो सकता।

(३) तीसरा अर्थ—"बीजोरा फल" है। बीजोरा कई प्रकार का होता है। जैसे गलगल, चिकोतरा, संगतरा, मीठा, जम्बीर, बिब फल इत्यादि। यहाँ पर बीजोरे से "जम्बीर फल" अभीष्ट है, क्योंकि अन्य बीजोरो की अपेक्षा इस रोग के लिये जम्बीर- बीजोरे का पका हुआ

मीठा फल ही अत्यंत लाभदायक है। तथा कुक्कुट (मधुकुक्कुटी) शब्द का अर्थ जम्बीर नामक फल ही होता है। इसके फल मे गूदा भी होता है। यह गूदा इन सब रोगो पर अत्यंत लाभदायक है। अर्थात् "कुक्कुड मसए"[१] का अर्थ "बीजोरे (जम्बीर) फल के गूदे से तैयार किया गया पाक मुरब्बा" होता है। तथा प्राचीन टीकाकारो ने एव चूर्णिकारो ने और कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य आदि गीतार्थ आचार्यों ने भी इसका यही अर्थ स्वीकार किया है। यह मुरब्बा कई दिनो तक सुरक्षित रहता है, बिगडता नही।

(४) चौथा अर्थ यदि मुर्गे का मास किया जावे तो यह मास इस रोग मे बहुत हानिकारक होने से इस रोग मे कदापि लाभकारी नही हो सकता था। देखिये —

मुर्गे के मास के गुण दोष—

(क) मुर्गे का मास स्निग्ध, गुरु, उष्ण, वृष्य, कफकृत, शक्तिप्रद, आंखों के लिये लाभकारी तथा वायु को नष्ट करता है।

(वैद्यक निघण्टु उर्दू, वैद्य कृष्णदयालकृत)

(ख) "स्निग्ध उष्ण गुरु रक्तपित्तजनक वातहर च मास।
सर्वमास वातविध्वसि वृष्य ॥"

अर्थात्—मुर्गे का मास चिकना, भारी, गरम, कफ को बढाने वाला, ताकत बढाने वाला, रक्तपित्त को पैदा करने वाला और वायु को दूर करता है। सब मास भारी और वात को नाश करते हैं।

मतलब यह है कि गर्म, भारी, चिकने पदार्थ भक्षण करने से रक्तपित्त विकार पैदा होता है, इस रोग मे वृद्धि होती है और रोगी को बहुत

१—"मास" शब्द नपुसक लिंग है। परन्तु 'मासक' शब्द पुल्लिग है और 'बीजोरा' शब्द भी पुल्लिग है। एव 'मासक' शब्द का अर्थ फल का गदा अथवा पाक मुरब्बा ही है। ऐसा हम ऊपर लिख भी आये हैं। इसलिये यहाँ पर "कुक्कुड मसए" का अर्थ बीजोरा पाक ही होता है। इसमे सन्देह की कोई गुजाइश नही है।

हानिकारक है। फिर वह पदार्थ चाहे वनस्पतिपरक हो चाहे मांसपरक। तुलना कीजिए :—

बादाम वनस्पति है। उसकी मज्जा, (गिरी) के गुण-दोष भी मुर्गे के मांस की तुलना करते हैं इसलिए ऐसे खाद्य भी इस रोग मे हानिकारक है। इसलिये लेने वर्ज्य है।

(ग) "वातादमज्जा मधुरा वृष्या तिक्ताऽनिलापहा।
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्तविकारिणाम् ॥१२५॥
(भावप्रकाश निघण्टु)

अर्थ—बादाम की मज्जा (गिरी) मीठी, पुष्टिकारक, वात का नाश करने वाली. गुरु अम्ल, शुक्ल, स्निग्ध, उष्णवीर्य और कफ करने वाली होती है। इसका सेवन रक्तपित्त के रोगियो को हानिकारक है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुर्गे का मांस उष्णादि गुण वाला होने से रक्तपित्त रोग, दाहज्वर, पित्तज्वर, अतिसार तथा पेचिश आदि रोगो की शांति के लिये कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता है।

हम लिख आये है कि 'मार्जार' के (१) हिंगोट का वृक्ष, (२) अगस्त्य का वृक्ष, (३) अगस्ति की शिम्बा, (४) लवंग आदि अनेक अर्थ होते है। इन हिंगोट (इंगुदी), अगस्त्य और अगस्त्य की शिम्बा इस रोग को शमन करने के लिये उपयोगी है, क्योंकि ये त्रिदोष नाशक हैं। वायु को शमन करने का भी इन में गुण है। किन्तु 'लवंग' में वायु त्रिदोष नाशक गुण होने के साथ-साथ अनेक ऐसे विशिष्ट गुण भी विद्यमान है, जो इस रोग में अत्यन्त उपयोगी है तथा विवादास्पद सूत्रपाठ की टीका में श्री अभयदेवसूरि ने लिखा है **"मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेष-स्तेन कृतं भावितम् ॥**

अर्थात्—वरालक नाम की औषधि विशेष से भावना दी (संस्कारित की) हुई। सो "वरालक" नाम की औषधि निघण्टुकारों ने लवंग को माना है। लवंग के गुणों का वर्णन हम पहले लिख चुके है। लवंग का पुट देना तथा संस्कारित करना जम्बीर फल के गूदे के साथ इसलिये आवश्यक है

कि जम्बीर फल का गूदा वायु कर्ता है। और वायु इस रोग मे हानिकारक है। लवग मे वायु को शमन करने का गुण विद्यमान है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु इस रोग के अनेक लक्षणो का निदान भी है।

अत "मज्जारकडए" शब्द का अर्थ हुआ कि "विरालिका" नाम की वनस्पति से सस्कारित किया हुआ।

अब "मज्जारकडए, कुक्कुडमसए" शब्दो का नीचे लिखा अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

"वायु[1], रक्तपित्त, पेचिश, अतिसार, दाह, पित्तज्वर आदि रोगों को शात करने के लिये, वरालक (लवग) नामक वनस्पति से सस्कारित बीजारे (जम्बीर) फल के गूदे का पाक (मुरब्बा)।

(१२) भगवतीसूत्र के विवादास्पद सूत्रपाठ का वास्तविक अर्थ --

भगवतीसूत्र का मूल पाठ —

त गच्छह ण तुम सीहा! मेंढियगाम नगर रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ ण रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहि नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार-कडए कुक्कुडमसए तमाहराहि, एएण अट्ठो।

इस उपर्युक्त सूत्रपाठ का वास्तविक स्पष्टार्थ यह है —

"(श्रमण भगवान् महावीर ने अपने शिष्य सिंह मुनि से कहा)

हे सिंह! तुम मेंढिक ग्राम नगर में गृहपति की भार्या रेवती (श्राविका) के घर जाओ। उसने मेरे लिये दो छोटे कुष्माण्ड[2] (पेठा)

१—भगवान् महावीर को तीन प्रकार के रक्तपित्त रोगो मे से अधो रक्तपित्त रोग था। यह रोग वायु प्रकोप से पित्त विकृत होकर होता है। अत वायु को शमन करने से रक्तपित्त विकार दूर होता है।

२—यद्यपि इस वास्तविक औषध मे रोग का शमन करने के गुण मौजूद थे तो भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमण के निमित्त तैयार किए हुए होने से निर्ग्रन्थ श्रमण उसे ग्रहण नहीं कर सकते थे, क्योकि जैन श्रमण के निमित्त

फल पका कर तैयार किये है उनकी तो आवश्यकता नही है (आधाकर्मी दोष युक्त होने से)। पर उसके वहां कुछ दिन पहले मार्जार (लवंग) नामक वनस्पति से संस्कारित (भावना दिये हुए) बीजोरे (जम्बीर) फल के गूदे से तैयार किया हुआ औषधीय पाक (मुरब्बा) पड़ा हुआ है (जो कि उसने अपने घर के लिये बना कर तैयार करके रखा है) उस की आवश्यकता है। उसे ले आओ।"

यही अर्थ प्राचीन टीकाकारों तथा चूर्णिकारों ने किया है, जो कि उपर्युक्त विवेचन से सर्वथा ठीक प्रमाणित हो जाता है। अतः—

(१) अध्यापक धर्मानन्द कोसाम्बी इस सूत्रपाठ का अर्थ किया गया है कि :—

उस समय महावीर स्वामी ने सिंह नामक अपने शिष्य से कहा— "तुम मेंढिग गांव में रेवती नामक स्त्री के पास जाओ। उस ने मेरे लिए दो कबूतर पका कर रखे हैं। वे मुझे नहीं चाहियें। तुम उससे कहना— कल बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी का मांस तुमने बनाया है, उसे दे दो।"

पाठक समझ गये होंगे कि कोसाम्बी जी द्वारा स सूत्र पाठ का किया गया अर्थ कितना असंगत, अघटित, अनुचित और भ्रान्तिपूर्ण है। बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी ऐसी अस्पृश्य तथा घृणित वस्तु को रेवती जैसी बारह व्रत धारिणी उत्कृष्ट श्राविका अपने घर लाकर और उसे पका कर तैयार करे तथा रक्तपित्त, दाह रोग की शान्ति के लिये ऐसी वस्तु का प्रयोग उचित मान लिया जावे, ये सब मान्यताएं अप्रासंगिक, वास्तविकता से दूर तथा कपोलकल्पित जचती हैं।

(२) तथा मंसए और कडए शब्दों का पुल्लिग प्रयोग भी प्राण्यंग

बनाया हुआ निर्ग्रन्थ श्रमणों को लेने के लिये भगवान् महावीर स्वामी ने मना किया है (सोमिल ब्राह्मण तथा भगवान् महावीर स्वामी के सम्वाद से हमने इस बात को स्पष्ट ज्ञात किया है) ऐसी अवस्था में महा श्रमण भगवान् महावीर स्वयं भी इसे ग्रहण नहीं कर सकते थे, क्योंकि कूष्माण्ड पाक उन के लिये बनाया गया था।

मास के पक्ष मे विरोधी है। इसमे यह मान्यता निराधार हो जाती है।

(३) उस समय भगवान् महावीर स्वामी की शारीरिक अवस्था कितनी गम्भीर थी, यह दिखलाये बिना कौसाम्बी जी की मान्यता को असगत ठहराना कठिन था, इसलिये हमने इसका विस्तृत वर्णन कर स्पष्ट किया है। अत जिनका शरीर छ महीनो से दाहज्वर-ग्रस्त हो, बाह्याभ्यन्तर तापमान बहुत चढा हुआ हो और खून के दस्त हो रहे हो, ऐसी अवस्था मे भगवान् महावीर अपने शिष्य निर्ग्रन्थ मुनि सिंह के द्वारा मुर्गीका बासी मास मगा कर खाने की इच्छा करें, यह बात वैद्यो, डाक्टरो के सिद्धातो के एक दम विरुद्ध तो है ही, पर सामान्य मनुष्य की दृष्टि से भी भगवान् महावीर की यह प्रवृत्ति आत्मघातक ही प्रतीत होगी।

•
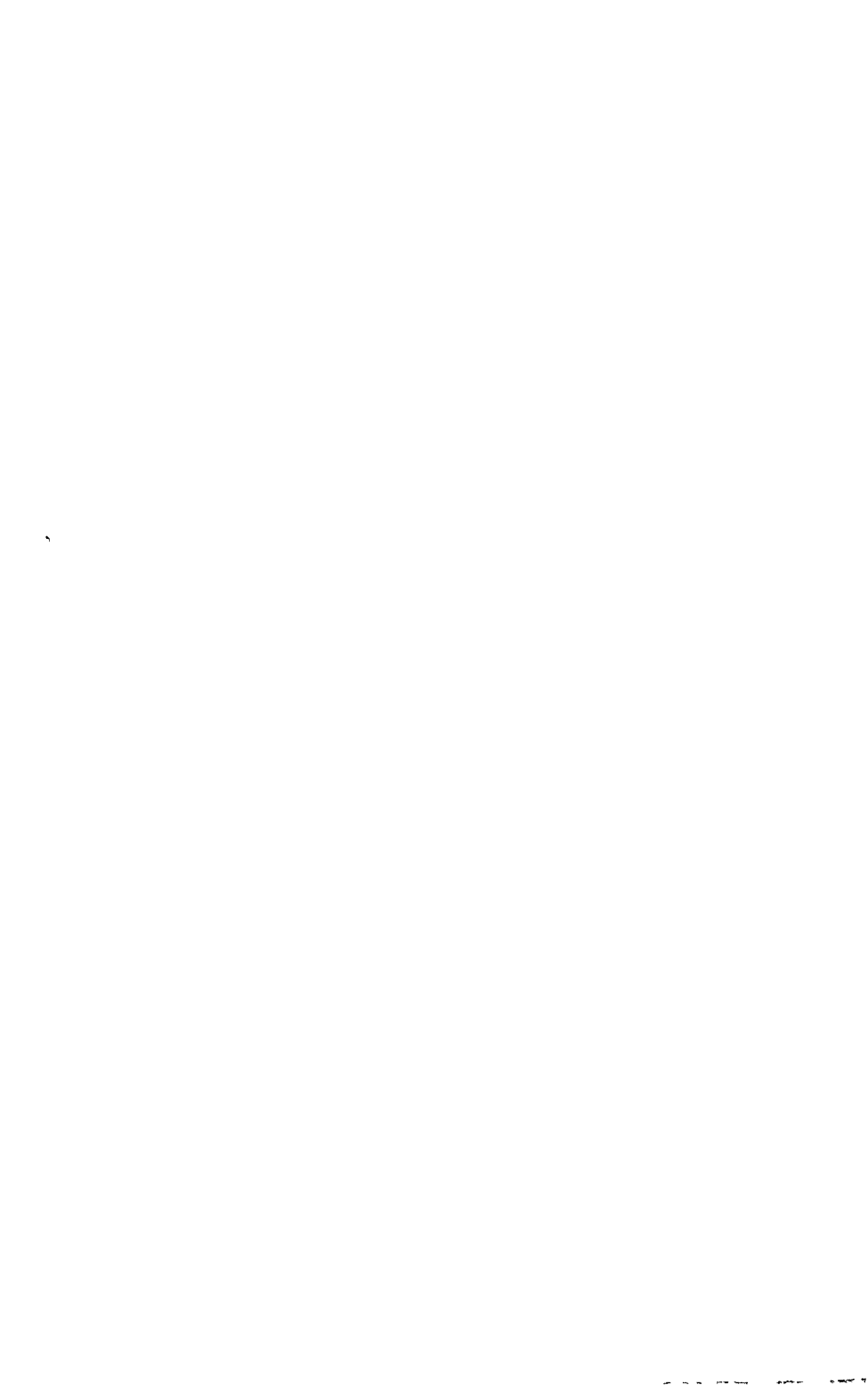
(१) सामान्य रूप से सबसे प्राचीन ऋग्वेद सहिता मे आमिष शब्द का प्रयोग ही नही मिलता, इतना ही नही बल्कि प्राचीन वैदिक निघण्टु मे भी मास अथवा इसके किसी पर्याय का नाम नही मिलता। इसका कारण यह तो नही हो सकता कि उस समय मास पदार्थ ही नही था। मनुष्य पशुओ के शरीर मे रहने वाली धातुओ मे से तृतीय मास धातु उस समय भी विद्यमान था। प्राचीन वेद तथा उसके प्राचीन वैदिक कोश मे उसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्राण्यग रूप मास का किसी कार्य मे उपयोग नही करते थे। अत उनकी बतायी हुई वैदिक ऋचाओ मे मास शब्द नही था और न ही उनके निघण्टुओ मे लिखने की आवश्यकता थी। यद्यपि "ऋग्वेद के कुछ सूक्तो मे मास शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु वे सूक्त ऋग्वेद मे पीछे मे जोड दिये गये हैं, ऐसी अनेक विद्वानो की मान्यता है। "शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण मे अनेक पशुओ की हिंसा की चर्चा है जो इस सहिता के रचयिता विद्वान याज्ञवल्क्य के वाजसनेयी होने का परिणाम है। इन्ही की बदौलत यज्ञो मे कुछ समय के लिये हिंसा खूब बढ चली थी, परन्तु अथर्ववेद के समय यह हिंसा का 'प्रवाह रुक पडा था"। 'अथर्ववेद' मे वन्ध्या गौ के वध का प्रसग आया अवश्य है, परन्तु इस वेद के अन्य स्थलो मे मास खाने का निषेध भी किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार यास्क के समय तक पशुयज्ञ और मासभक्षण मर्यादित हो गया था। इसी कारण से मास शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह प्राण्यग मास को नहीं, परन्तु वनस्पत्यग मास को ही लागू होती है। यहाँ मास प्राण्यग रूप नही पर फल मेवो के गर्भ अथवा

पिष्टान्न आदि से बनाये गये मिष्टान्न भोजन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मास शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं :—

"मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदति वा।"

अर्थ—मांस कहो, मानन कहो, मानस कहो ये सब एक ही अर्थ के प्रतिपादक पर्याय है और ये उस भोजन के नाम हैं; जो आगन्तुक माननीय महमान के लिये तैयार किया जाता था और वह समझता था कि मेरा बड़ा मान किया गया है।

"मन ज्ञाने" इस धातु से मांस शब्द निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ होता है, बड़े आदमी के सन्मान का साधन।

पुरातत्त्वज्ञाता विद्वानो ने आचार्य यास्क का समय ईसा पूर्व नवम शताब्दी निश्चित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से तोन हजार वर्ष पूर्व के वैदिक साहित्य मे मांस शब्द वनस्पतिनिष्पन्न खाद्य के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

इस के बाद धीरे-धीरे मधुपर्क और पिण्टकर्म में प्राण्यंग मांस का प्रयोग होने लगा। "बोधायन गृह्यसूत्र" में जो कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी की कृति मानी जाती है—यह आग्रह किया गया है कि मधुपर्क में प्राण्यंग मांस अवश्य होना चाहिये यदि पशु मांस न मिले तो पिष्टान्न का मांस तैयार कर काम में लिया जाए।

"आरण्येन वा मांसेन ॥५२॥ न त्वेवामांसोऽर्घ: स्यात् ॥५३॥ अशक्तौ पिष्टान्नं संसिध्येत् ॥५४॥"

अर्थ—(गौ के उत्सर्जन कर देने पर अन्य ग्राम्य पशुओं के अभाव में) आरण्य पशु के मांस से अर्घ्य किया जाय, क्योंकि मांस विना का अर्घ्य होता ही नहीं। यदि आरण्य मांस की प्राप्ति न कर सके तो पिष्टान्न से उसे (मांस को) तैयार करे।

उपनिषदों में भी मांस तथा आमिष शब्द प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर होते है, परन्तु वहाँ सभी जगह में वनस्पति खाद्य पदार्थ का अर्थ प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् वाक्य कोश में लिखा है—

"मासमुद्गीय ।" "यो मध्यमस्त मासम् ।"

अर्थ—मास के गुण गाओ । जो भीतर का सार भाग है ।

उक्त उद्धरणो से भली-भाति प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक प्राचीन साहित्य मे अति पूर्व काल मे मास—आमिष आदि शब्द वनस्पति खाद्यो के अर्थ मे प्रयुक्त होते थे और भोजन मे पशवङ्ग की प्रवृत्ति बढने के समय मे इन शब्दो का धातु प्रत्यय मे व्यक्त होने वाला अर्थ तिरोहित हो गया, और प्राण्यग मास ही मास शब्द का वाच्यार्थ बन गया ।

पिछले समय मे जब कि मास तथा आमिष शब्द केवल प्राण्यग मास बन चुके थे, उस समय भी 'आमिष' शब्द कई अर्थो मे प्रयुक्त होता था । ऐसा 'धर्म सिन्धु' ग्रथ मे दिये गये निम्नलिखित प्राचीन श्लोको से ज्ञात होता है ।

"प्राण्यगचूर्णं चर्मस्योदक जम्बीर बीजपूर यज्ञशेषभिन्न विष्ण्व-निवेदितान्न दग्धान्न मसूर मास चेत्यष्टविधमामिष वर्जयेत् ।"

अन्यत्र तु "गोछागीमहिष्यन्यदुग्ध पर्युषितान्न द्विजेभ्य क्रीता रसा भूमिलवण ताम्रपात्रस्थगव्य पल्वलजल स्वार्थपक्वमन्नमित्यामिष-गण उक्त ॥"

अर्थ—प्राणधारी के किसी भी अग का चूर्ण, चमडे मे भरा हुआ पानी, जम्बीर फल, बीजोरा, यज्ञशेष के अतिरिक्त विष्णु को निवेदित नही किया हुआ अन्न, जला हुआ अन्न, मसूर धान्य और मास इन आठ पदार्थो का समुदाय आमिषगण कहलाता है । मतान्तर से आमिष गण—गाय, बकरी, भैस के दूध को छोडकर शेष जानवरो का दूध, बासी अन्न, ब्राह्मण से खरीद की हुई जमीन, जमीन पर के खार से तैयार किया हुआ नमक, ताम्रपात्र मे रखे हुए पाच गव्य, छोटे खड्डे मे रहा हुआ जल, आत्मार्थ पकाया हुआ भोजन, यह दूसरे प्रकार का आमिषगण है ।

उपर्युक्त दोनो आमिषगणो मे आमिष शब्द अभक्ष्य अथवा अपेय पदार्थो मे प्रयुक्त हुआ है । इससे ज्ञात होता है कि धर्मसिंधु' गत उपर्युक्त दो सूत्रो के निर्माण समय से पहले ही वैदिक साहित्य मे आमिष

शब्द का "अच्छा भोजन", यह अर्थ भूला जा चुका था। यही कारण है कि उक्त पदार्थों को आमिष का नाम देकर वर्जित बताया गया है। (मा० भो० मी०, क० वि०)

(२) आयुर्वेद, जैन तथा बौद्ध आदि के प्राचीन ग्रंथों मे आमिष, मास, मत्स्य, आस्थिक आदि शब्दों का प्रयोग वनस्पत्यंगों तथा पक्वान्नों आदि खाद्य पदार्थों के लिये किया गया मिलता है। इसका विवेचन हम द्वितीय खण्ड में विस्तृत कर[1] आये है। तत्पश्चात धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग प्राण्यंगों,

---

१. पचामांग भगवतीसूत्र में इस चर्चास्पद सूत्र पाठ के वनस्पतिपरक अर्थ के समान ही आचाराग, दशवैकालिक आदि के चर्चास्पद सूत्र पाठों के भी वनस्पतिपरक अर्थ है। जैनागमों में आये हुए चर्चास्पद शब्दों के प्राण्यंगों के अतिरिक्त निरामिप अर्थ प्राचीन भारतीय साहित्य से सप्रमाण यहाँ दिये जाते है : ये शब्द अट्ठि, अट्ठिय, आमिप, कंटय, मच्छ, मंस, मज्ज आदि है।

	अर्द्धमागधी	संस्कृत	निरामिषार्थ	स्थल
१.	अट्ठि	अस्थि	वीज, गुठली, लकडी	कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० ११८, सुश्रुत संहिता, वृहदारण्योपनिपद्
२.	अट्ठिय	१. अस्थिक	१. जिसमें बीज न बना हो ऐसा अपरिपक्व फल, गुठली वाले बेर, आम आदि फल	वृह० १ पण्णवणा सूत्र
		२. आर्थिक	२. मोक्ष का कारण	उत्तराध्ययन १
३.	आमिस	आमिप	१. आहार, फलादि भोज्य वस्तु	पंचा० ६

वनस्पत्यगो तथा पक्वान्नो आदि मे समान रूप से होने लगा। उस समय प्राण्यग मास हल्के मनुष्यो तथा
क्षत्रियों आदि शिकारी जातियो का खाद्य अवश्य बन गया था। वेदविहित यज्ञो मे पशु-बली की प्रथा के
कारण प्राण्यग मास जो यज्ञ मे बली से बनता था वह भी धमश्रद्धा से खाद्य बनता जा रहा था। तथापि
जैन श्रमण एवं जैन श्रमणोपासक गृहस्थ (श्रावक) इसका आहार कदापि न करते थे। किन्तु जैन
तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ ने राजा उग्रसेन के वहाँ भोजनार्थ बाँधे गये पशुओ को अभय दान दिलाया
तथा भगवान महावीर स्वामी ने पशुओ के यज्ञो का घोर विरोध किया। यह सब कुछ होने पर भी
गौतम बुद्ध ने भगवान् महावीर स्वामी के समान ही हिंसक यज्ञो का विरोध किया। किन्तु तथागत
गौतम बुद्ध एवं उनके भिक्षुओ मे प्राण्यग मत्स्य, मास आदि का भक्षण होने लग गया था। ईसा की प्रथम

---

		२ नैवेद्य मिष्टान्न, पक्वान्न	सबोध प्रकरण
		३ आमिष पूजा—नैवेद्य पूजा	धर्मरत्न करडक (वधमान सूरिकृत)
		४ जम्बीर फल, बिजोरा, जला हुआ अन्न, मसुर धान्य, गाय, भैंस, बकरी के दूध के सिवाय अन्य दूध। बासी अन्न, नमक, अपने लिये पकाया हुआ भोजन इत्यादि।	धम सिन्धु
८ कटय / कटग	कटक	१ काँटा २ शल्य	हे० १ विपाक १, ८

शताब्दी के बाद माँस शब्द जो पिष्ट से निष्पन्न मिष्टान्न तथा फल गर्भ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, वह धीरे-धीरे भूला जाने लगा। ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व निर्मित जैनागमों तथा प्रकीर्णकों मे माँस आदि शब्द वनस्पत्यंग तथा पक्वान्नों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए है। इसके बाद के जैन ग्रथों में माँस और पुद्गल शब्दों का प्रयोग प्राण्यंग मांस के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा।

(३) जैनागमों में आये हुए विवादास्पद सूत्र पाठों का वास्तविक अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक है कि जैनागमों की रचना का इतिहास भी जाना जाय ताकि स्पष्टार्थ समझने में सुगमता प्राप्त हो।

---

			३. दुःखोत्पादक वस्तु	उत्तराध्ययन १
५.	कंटय बोंदिया—कंटक शाखा		१. काँटों वाली वृक्ष शाखा	आचाराग २, १, ५
	मच्छ	मत्स्य	१. मत्स्याकृति के बनाये हुए उड़द की पीठी के पक्वान्न, कोद्रव धान्य के तंदुल, व्रीहि के तदुल	क्षेम कुतूहल कौटिलीय अर्थशास्त्र अ० २४ पृष्ठ ११७
		मादयति अनेन इति मत्स्य।	नशा करने वाले धान्य	
	मच्छडिया	मत्स्यंडिका	अण्ड शर्करा—एक प्रकार की शक्कर	पण्ह० २, ४, णाया०
६	मंस	मास	१. फलियों का गूदा, फल का गूदा, मेवों का गूदा	वृहदारण्योपनिपद् सुश्रुत सहिता,

भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी ४२ वर्ष की आयु मे ईसा पूर्व ५५७ वर्ष मे केवल ज्ञान प्राप्त कर अपने सिद्धान्तो का सार्वत्रिक प्रचार करना प्रारम्भ किया और ईसा पूर्व ५२७ वर्ष मे निर्वाण (मोक्ष) पाने तक लगातार जो ३० वर्षो तक उपदेश दिया, उस उपदेश को उनके मुख्य शिष्यो—गणधरो ने सूत्र रूप मे गुथन किया और उन्हें द्वादशांगो—बारह अगो (शास्त्रो) मे सगृहीत कर अपनी शिष्य परम्परा मे इनका क्रमश पठन पाठन चालू रखा। भगवान् महावीर स्वामी के बाद इस द्वादशागी के आधार से पूर्वविद् जैनाचार्यों ने समय समय पर जिन शास्त्रो की रचना की वे आगम तथा प्रकरणो के नाम से प्रसिद्ध हुए। भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट द्वादशागी अग प्रविष्ट तथा उसके आधार से रचे गये शास्त्र

---

		२ गरिष्ठ खाद्य पदार्थो मे प्रथम नम्बर का खाद्य पदार्थ जो घी शक्कर, पीठी आदि से वनाया जाता है, उसमे केसर अथवा लाल चन्दन का रग दिया जाता है।		अनेकार्थ सग्रह कोश
७	मज्ज	१ मस्ज	स्नान करना, डूबना	हे० ४, १०१
		२ मद्य	सधान जल	माव०
		३ मृज	साफ करना, मार्जन करना	पड्० प्राकृ० हे०

अध्यापक कोसाम्बी ने "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक मे जैनागमो-दशवैकालिक तथा आचाराग के जिन सूत्र पाठो के उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जैन साधु प्राणयग मास भक्षक थे वहाँ सब अर्थ वनस्पतिपरक हैं। उन सूत्र पाठो के पूर्वापर सम्बन्ध से यह बात स्पष्ट है।

समूह अंगवाह्य के नाम से कहे जाते है । भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधर थे, उनमें से नव तो भगवान् महावीर की मौजूदगी में ही निर्वाण (मोक्ष) को पा गये थे । जिस रात्रि को भगवान् महावीर ने निर्वाण पाया था उसी रात्रि को उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम को केवल-ज्ञान हो जाने से एक मात्र पांचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी उस समय भगवान महावीर के चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) रूप तीर्थ के नेता (संघ नायक आचार्य) संरक्षक बने । जैन श्रमण वाह्याभ्यतर परिग्रह के सर्वथा त्यागी होने से उन्हे निर्ग्रन्थ (निग्गंठ अथवा निग्गथ) के नाम से सवोधित किया जाता था । वे निर्ग्रथचर्या के पालन के लिये अत्यावश्यक कतिपय उपकरणों के सिवाय अपने पास अन्य कोई भी पदार्थ नही रखते थे तथा उस समय केवली, गणधर एवं द्वादशांगी (ग्यारह अग तथा चौदह पूर्वों) का ज्ञाता गीतार्थ जैन श्रमण संघ विद्यमान होने से भगवान् महावीर की वाणी को लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी । भगवान् महावीर के बाद १७० वर्षों तक श्री भद्रबाहु स्वामी तक द्वादशांगी को निर्ग्रन्थ श्रमणों ने बराबर कंठस्थ याद रखा, इसलिये उस ज्ञान मे कमी नही आयी । श्री स्थूलभ जो कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी के समकालीन तथा उनके बाद उनके पट्टधर आचार्य नियुक्त हुए वे ग्यारह अंगों तथा दस पूर्वों के अर्थ सहित ज्ञाता एवं चार पूर्वों को मूल सूत्र पाठ से जानते थे । उस समय अनेक अन्य निर्ग्रन्थ भी इतने ज्ञान के ज्ञाता थे । यह समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी ठहरता है । आर्य सुहस्ती, आर्य महागिरि, महाराजा सम्प्रति के समय हुए (ई० पू० २२०) । फिर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी (ई० पू० १७४) में जैन सम्राट कलिंगाधिपति खारवेल ने अपनी महा विजय के बाद अपनी राजधानी में एक धर्म सम्मेलन किया । उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण वहुत संख्या में पधारे । "वहाँ उन सव ने जैनागमों की वाचना की और उन्हे व्यवस्थित किया ।" ऐसा हाथी गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है । इसी प्रकार वीच-वीच में एक-दो शताब्दियों के वाद निर्ग्रन्थ श्रमण किसी न किसी स्थान पर एकत्रित

होकर जैनागमो का परस्पर मिलकर वाचन करके उन को सुरक्षित रखते आये। ईसा की प्रथम शताब्दी मे वज्रस्वामी हुए तब तक ग्यारह अग तथा पूर्वो का ज्ञान कठस्थ सुरक्षित रहा। इसके बाद काल के स्वभाव से बुद्धि मद हो जाने के कारण से निग्रन्थ श्रमण आगम पाठ भूलने लगे। भगवान् महावीर स्वामी के चौबीसवें पाट पर श्री सकदिलाचार्य हुए, उस समय बारह वर्षीय दुष्काल पडने के कारण जैन श्रमणो को अग-उपाग भी पूर्ण रूप से याद नही रहे। सुभिक्ष होने पर मथुरा मे सकदिलाचार्य की अध्यक्षता मे जैन श्रमणो का फिर एक बृहत्सम्मेलन हुआ। उस समय निग्रन्थ श्रमण सघ ने एकत्रित होकर जिस साधु को जिस शास्त्र का जितना पाठ कठस्थ याद था वह एकत्र करके जैनागमो को पुन सकलित किया गया। इसलिये इसे माथुरी वाचना कहते हैं। यह समय लगभग ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी का ठहरता है। इस प्रकार बीच-बीच मे एक-दो शताब्दियो के बाद निर्ग्रंथ श्रमण अपना सम्मेलन करके जैनागमो के अपने कठस्थ ज्ञान का पुनर्वाचन करके उन्हे व्यवस्थित रखते आये। अन्त मे काल के स्वभाव से जब स्मरणशक्ति मे अधिक कमी आने लगी और सूत्र पाठ विस्मरण होते चले गये। तब ईसा की पाचवी शताब्दी मे (भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद) वलभी नगरी मे समस्त निर्ग्रंथ श्रमणो का एक बृहत्सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष जैनाचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे। यह उस समय के युग-प्रधान और मुख्याचार्य थे। सम्मेलन मे जिस जिस साधु को आगमो के जो-जो पाठ कठस्थ याद थे उनका वाचन हुआ। वाचना के पश्चात् यह मालूम हुआ कि चौदह पूर्व पूर्ण भूले जा चुके हैं। बाकी के ग्यारह अगा के भी कुछ भाग विस्मरण हो चुके हैं। इस निर्ग्रंथश्रमणसघ के सामने विकट समस्या उपस्थित थी। यदि इस समय बचे हुए इस कठस्थ आगम ज्ञान को लिपिबद्ध न किया गया तो कालातर मे यह भी भूल जाने से भगवान् महावीर की द्वादशागी वाणी का पूर्ण रूप से विच्छेद हो जायगा और यदि लिखा जाता है तो इस काम को निर्ग्रन्थश्रमणसघ

को स्वयं निष्पन्न करना होगा। यदि ऐसा ही आवश्यक है तो श्री निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ को संयम पालन के निमित्त अपने उपकरणों मे लेखनी, स्याही, ताड़पत्र इत्यादि की वृद्धि करनी पड़ेगी। अन्त मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार करके जिससे अहित का परिहार तथा हित का लाभ हो ऐसे उत्सर्ग-अपवाद रूप स्याद्वाद की दृष्टि को लक्ष्य मे रखते हुए उस समय एकत्रित हुए निर्ग्रन्थश्रमणसंघ ने सर्वसम्मति से इस कंठस्थ ज्ञान को लिपिवद्ध करके पुस्तकारूढ़ करने का निर्णय किया। इस निर्णय के अनुसार श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जो-जो आगम पाठ जिस-जिस निर्ग्रन्थ श्रमण को याद थे उन सव को विना किसी फेर-फार के ताड़पत्रों पर लिख कर लिपिवद्ध किया। भगवान् महावीर के समय से लेकर इस समय तक जितने आगमों प्रकीर्णकों की रचना हुई थी, फिर वे चाहे अंगप्रविष्ट थे या अंगवाह्य थे उन का जितना-जितना भाग याद था सव संगृहित कर लिया गया। अर्थात् ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की पांचवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य को लिपिवद्ध करके लिख लिया गया। तत्पश्चात् इस आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीकाएं आदि लिखे गये। तथा अनेकविध नवीन साहित्य की रचना भी होती आ रही है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनागमों मे जो कि इस समय विद्यमान है उन की मूल भाषा जैसी कि भगवान् महावीर स्वामी ने अपने श्रीमुख से दिव्य ध्वनि द्वारा अपनी देशना (उपदेश) में कही थी वही भाषा विना किसी फेर-फार के सुरक्षित है।

(४) इन जैनागमों पर टीकाएं आदि लिखने वाले टीकाकार समर्थ विद्वान थे, जैन सिद्धान्तों तथा आचारों के जानकार एवं प्रतिपालक थे। उनके रोम-रोम में जैनधर्म का अनुराग भी था। ऐसा होते हुए भी वे छद्मस्थ थे और इन आगमों पर टीकाओं की रचनासमय तक तो इन विवादास्पद शब्दों के प्राचीन अर्थ प्रायः भूले जा चुके थे तथा इनके नवीन अर्थ प्राण्यंगों के रूप में प्रचार पा चुके थे। इसलिये शब्द कोशकारों ने भी अपने नवीन शब्द कोशो में इन शब्दों के अर्थ को प्राण्यंग रूप में लिखा। यह वात

भाषाशास्त्रियों से छिपी नहीं है। ऐसी हालत में इन विवादास्पद सूत्र-पाठों के अर्थ में मत-भेद होना स्वाभाविक था। जिन्हें तो प्राचीन गुरु-परम्परा द्वारा किये जाने वाला अर्थ याद था वे तो इन शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक तथा पक्वान्नादि खाद्य पदार्थ करते थे और जो उन प्राचीन अर्थों को भूल चुके होंगे और उस समय के प्रचलित अर्थ करने होंगे वे इन शब्दों का अर्थ प्राणपरक समझने लगे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि कोई-कोई आचार्य अपनी छद्मस्थावस्था के कारण प्राचीन समय से किये जाने वाले अर्थों के बदले मांसपरक अर्थ समझने लगे हों तो भी जब वे जैन आचार विचारों के साथ तुलना करते तो उन्हें इस बात का विस्मय हुए बिना नहीं रहता होगा कि नवकोटिक अहिंसा के प्रतिपालक तथा उपदेशक निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) तथा निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार सम्बन्धी सूत्र-पाठों में ऐसे मांसनिष्पन्न पदार्थों के व्यवहार को आना क्या ?

जैनाचार्यों ने शब्द से भी अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। इसके मूल की खोज की जाय तो पता लगता है कि जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर तो केवल अर्थ का उपदेश देते हैं। "शब्द गणधर के होते हैं"। अर्थात् मूलभूत अर्थ है न कि शब्द। वैदिकों में तो मूलभूत शब्द है उस के बाद उसके अर्थ की मीमांसा होती है। इसलिये जैनधर्म के अनुसार मूलभूत अर्थ है शब्द तो उसके बाद आता है। यही कारण है कि सूत्रों के शब्दों का उतना महत्त्व नहीं, जितना उनके अर्थों का है। इसी लिये जैनाचार्यों ने शब्द का उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि अर्थों को दिया और फलस्वरूप शब्दों को छोड़ कर वे तात्पर्यार्थ की ओर आगे बढ़ने में समर्थ हुए। शब्द का केवल एक प्रसिद्ध अर्थ करना "भाषा" है, एक से अधिक अर्थ करना "विभाषा" है, तथा यावत् अर्थ कर देना "वार्तिक" है।

आचार्य अपनी ओर से सूत्रों की व्याख्या करते हैं, किन्तु उस व्याख्या का तीर्थंकर देवों की किसी भी आज्ञा से विरोध नहीं होना चाहिये।

तीर्थंकर देव की आज्ञा के विरोध में अपनी आज्ञा देने का अधिकार आचार्य को नही है। क्योंकि तीर्थंकर और आचार्य की आज्ञा में बलाबल की दृष्टि से तीर्थंकर देव की आज्ञा ही बलवती मानी जाती है, आचार्य की नहीं। अतएव तीर्थंकर देव की आज्ञा की अवहेलना करने वाला व्यक्ति अविनय एवं गर्व के दोप से दूषित माना गया है। जिस प्रकार श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही बलवान मानी जाती है, उसी प्रकार तीर्थंकर की आज्ञा आचार्य की आज्ञा से बलवती है।

यही कारण है कि प्रथमांग आचारांग के टीकाकार श्री शीलंकाचार्य तथा दशवैकालिक आगम के टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि ने सूत्र पाठों में आने वाले इन विवादास्पद शब्दों के अर्थ जैनधर्म के मूल-भूत सिद्धान्तो के अनुकूल करने के लिये अपनी बुद्धि का ठीक-ठीक उपयोग करने मे कोई कसर नहीं उठा रखो। पृथ्वी, पानी आदि छः काय जीवों की दया पालने वाले, कीड़ियों की करुणा के लिये कड़वी तुम्बी का आहार करने वाले तथा अपने मान्य तीर्थंकर देवों के सिद्धान्त को पालन करने के उपलक्ष मे पाँच-पाँच सौ एक ही समय मे घानी में पीले जाने पर भी हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुति देने वाले जैन निर्ग्रंथ अनिवार्य संयोगों में भी मांस मछली आदि का भक्षण क` ऐसी बात उन के गले भी न उतरी। तथा जिस प्रकार इन सूत्रों के विवादास्पद भागों को आजकल के कुछ विद्वान क्षेपक अथवा विचारणीय मानते है, उन टीकाकारों ने इन आधुनिक विद्वानों के समान धृष्टता भी नही की। उन्होंने अपनी बुद्धि को कसकर मूल सिद्धान्त के हार्द के जितना समीप से समीप जाया जा सका उतना जाने का प्रयत्न किया। किन्तु उन्होंने किसी भी स्थान पर मांस-मछली आदि अभक्ष्य पदार्थो को खाने का अर्थ तो किया ही नही।

पंचमांग भगवतीसूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने तो इसमें आये हुए विवादास्पद सूत्र पाठ का स्पष्टार्थ वनस्पति-परक ही स्वीकार किया है। अतः प्राचीन टीकाकारों, चूर्णिकारों के मतानुसार भी निर्ग्रंथ श्रमण मांस-भक्षण अथवा मांस-भिक्षा करते थे यह कदापि सिद्ध नही हो सकता।

अत भगवतीसूत्र के अलावा आचराग, दशवैकालिक, एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि अन्य जैनागमो मे आने वाले ऐसे विवादास्पद शब्दो का अर्थ भी वनस्पतिपरक तथा पक्वान्न आदि ही निर्ग्रंथ आचार-विचारो के साथ प्राचीन वेद तथा प्राचीन जैनादि ग्रन्थो के अनुसार सगत बैठता है, किन्तु मासपरक सर्वथा असगत है। यदि किसी आधुनिक विद्वान को यह धारणा हो कि इन सूत्रो की रचना के समय रचनाकार को वनस्पतिपरक तथा मासपरक दोनो ही अर्थ अभिप्रेत थे तो उनकी यह धारणा उपर्युक्त उदाहरणो से सर्वथा असत्य ठहरती है। दूसरी बात यह है कि कभी भी किसी श्रमण निर्ग्रन्थ ने मासाहार ग्रहण किया होता तो उसका वर्णन जैन अथवा जैनेतर साहित्य मे अवश्य पाया जाता किन्तु हर्ष का विषय है कि किसी भी जैननिग्रन्थश्रमण ने मासभक्षण किया हो अथवा मास-भिक्षा ग्रहण की हो उसका नाम तक किसी भी प्राचीन भारतीय साहित्य मे नही मिलता।

(५) इतने विवेचन से यह बात फलित होती है कि आचाराग, भगवती, सूर्यप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक आदि जैन आगमो का रचनाकाल जब इन विवादास्पद शब्दो का प्रयोग वनस्पतिपरक तथा पक्वान्नो आदि के अर्थ मे होता था, उतना प्राचीन है। वह समय ठीक भगवान् महावीर स्वामी का ईसा पूर्व छठी शताब्दी का बैठता है इससे यह स्पष्ट है कि वलभी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे जिन आगमसमूह को सकलित कर लिपिबद्ध किया गया था वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की वाणी का बिना किसी फेर-फार के सकलन था। जो आज तक श्वेताबर जैनो के पास सुरक्षित है।

अत सुज्ञ विद्वानो को चाहिये कि इन सूत्रपाठो का अर्थ करते समय निर्ग्रन्थ आचार-विचार तथा भगवान् महावीर स्वामी के समय मे जो अर्थ प्रचलित थे उन्ही के अनुकूल अर्थ करे। विपरीतार्थ कर अपनी अज्ञानता का परिचय न दे।

(६) यदि निर्ग्रन्थपरम्परा मे मछली, मासाहार आदि का प्रचलन होता अथवा जैनागमो मे मछली मासादि के आहार करने का उल्लेख

होता तो अन्य धर्मावलम्बियों के साहित्य में जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी रूप में जैनों पर मांसाहार करने का आक्षेप अवश्य पाया जाता। परन्तु यह बड़े गौरव का विषय है कि जैनेतर साहित्य मे जैनों पर इस आक्षेप का सर्वथा अभाव है। मेरे एक मित्र जो एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान है लेखक, वक्ता तथा धर्मोपदेशक है उन्होंने इस विषय के लिये यह तर्क किया—"संभव हो सकता है कि जैन साहित्य जैनेतर विद्वानों के हाथ में न जा पाया हो, इसलिए हो सकता है कि वे ऐसा आक्षेप जैनों पर न कर पाये हो" उनकी यह दलील कोई युक्तिसंगत प्रतीत नही होती, क्योकि यह कभी संभव नही हो सकता कि जैन साहित्य जैनेतर विद्वानों के हाथ में न गया हो। यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तो भी वैदिक, पौराणिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि अनेक निर्ग्रन्थ श्रमण जैनधर्म का त्याग कर अन्य धर्म सम्प्रदायों में जा मिले। अनेकों ने निर्ग्रन्थ श्रमण की चर्या का त्याग कर अपने नवीन सम्प्रदायों की स्थापना भी की। जब वे जैन धर्मोपासक थे तब उन्होंने जैनागमों का अभ्यास तो अवश्य ही किया होगा। इसका यह मतलब हुआ कि वे जैनागमो तथा निर्ग्रन्थाचारों विचारों से पूर्णरूपेण परिचित थे, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि जैनागमो तथा जैन आचार-विचारों में किंचित मात्र भी मांस मछली आदि अभक्ष्यभक्षण का वर्णन अथवा प्रचलन होता तो वे जैनधर्म के प्रतिपक्षी रूप मे जैनों पर अवश्य आक्षेप करते पाये जाते।

(७) निर्ग्रंथ (जैन) श्रमणों का आचार जनता के समक्ष था, क्योंकि जैन मुनि आहार आदि सदा गृहस्थों के वहाँ से ही ले लेते थे एवं लेते है। यदि वे कदाचित् अनिवार्य अवस्था में भी प्राण्यंग मांस-मत्स्यादि का भक्षण करते तो जैनेतर साहित्य मे जैनों पर मांसाहार करने का आक्षेप अवश्य पाया जाता। ऐसा न होना ही यह सिद्ध करता है कि निर्ग्रंथ आचार-विचार से प्राण्यंग मासादि भक्षण को किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं।

(८) गौतम बुद्ध, जमाली, गोशालक ये तीनो भगवान् महावीर स्वामी

के समकालीन थे तथा ये सभी प्रथम निर्ग्रन्थपरम्परा मे दीक्षित हुए और वर्षो तक निग्रन्थ आचारो का पालन भी करते रहे। बाद मे इस परम्परा का त्याग कर जब उन्होने अपने-अपने नवीन पथो की स्थापनाएँ की तब भी उन्होने जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी के रूप मे जैन सिद्धान्तो तथा आचारो का घोर विरोध किया। यद्यपि इन तीनो मे से बुद्धधर्म के साहित्य के अतिरिक्त किसी पथ का साहित्य उपलब्ध नही है तथापि बौद्ध साहित्य को देखने से हम स्पष्ट जान सकते हैं कि तथागत गौतम बुद्ध ने जब अपने पथ की स्थापना की उस समय अपने पथ के प्रचार तथा विस्तार के लिये जैन धर्म के अनेकान्तवाद, तपश्चर्या आदि की बडी आलोचना की। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध तथा उनके भिक्षु प्राण्यग मांस, मछली आदि मृतमास का खुल्लम-खुल्ला निःसकोच भक्षण करते थे और वे लोग मृतमासभक्षण मे दोष भी नही मानते थे। उनके इन अभक्ष्य पदार्थो के भक्षण करने पर उनके समकालीन निरामिषभोजी मतावलम्बियो ने उन की ऐसी आचार प्रणाली की बडी आलोचना की एव आक्षेप भी किये। उन आलोचको मे जैन भी एक थे। बुद्ध ने अपने इस शिथिलाचार को ढाँकने के लिये तथा अपने धर्मप्रचार के लिये अपने आलोचको के विरुद्ध अनेक प्रकार से प्रचार किया। इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि जैन तथा बौद्ध उस समय परस्पर प्रतिस्पर्द्धी के रूप मे थे। ऐसा होते हुए भी बौद्ध साहित्य मे जैनो पर मासाहार करने का आक्षेप न पाया जाना हमारे इस मत की पुष्टि करता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा मे कदापि प्राण्यग मास मछली आदि अभक्ष्य पदार्थो के खाने का प्रचलन नही था।

(९) मात्र इतना ही नही परन्तु शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने अपनी निग्रन्थ अवस्था की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए मत्स्य, मांस, मदिरा आदि सेवन करने का निषेध किया है। ऐसा होने से निग्रन्थ श्रमणो का मांसाहार न करने का स्पष्ट निर्देश पाया जाना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा में ऐसे अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का कदापि प्रचलन नहीं था।

(१०) जैन अथवा जैनेतर प्राचीन साहित्य को देखने मे यह भी पता लगता है कि सदा से जैन सम्प्रदायों के अनेक समर्थ विद्वानों ने अपने पहले सम्प्रदाय का त्याग कर जैनधर्म को स्वीकार किया। जिनमे निग्गंठ नाय-पुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) के मुख्यशिष्य-गणधर इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण पंडितो ने भी जो चौदह विद्याओं के ज्ञाता थे अपने हजारों शिष्यों के साथ निर्ग्रन्थ श्रमण के पांच महाव्रतो को स्वीकार कर जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण की। वे सब जैनधर्म स्वीकार करने से पहले यज्ञों मे स्वयं पशुवलि करते थे, दूसरों से करवाते थे, तथा इस प्रथा का सर्वत्र प्रचार भी करते थे, एवं यज्ञो द्वारा तैयार किये हुए प्राण्यंग मांस को खाना अपना परमधर्म समझते थे। शय्यंभव, हरिभद्र आदि अनेक समर्थ विद्वानों ने भी ऐसा ही किया। जैनधर्म को स्वीकार करने के बाद ये सब महान् तपस्वी परमसंयमी तथा नवकोटिक अहिंसा के प्रतिपालक व और समर्थ गीतार्थ जैनाचार्यो के रूप में ख्यात हुए। यदि जैनधर्म के आचार विचारो मे किंचिन्मात्र भी सामिषाहार की आज्ञा अथवा प्रचार होता तो वे स्वयं परम अहिंसक कदापि न बन पाते। मात्र इतना ही नही परन्तु वह जैनों पर यह आक्षेप भी अवश्य करते कि आप जैन लोग स्वयं तो सामिषाहार करते हैं फिर भी अन्य सामिषभोजी सम्प्रदायों की आलोचना क्यों करते है? किन्तु परम गौरव का विषय है कि जैनों पर ऐसा एक भी आक्षेप जैन अथवा जैनेतर साहित्य में दृष्टिगोचर नही होता। इस से यह स्पष्ट होता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) धर्म में सामिषाहार को किंचिन्मात्र भी अवकाश नही है।

(११) जहाँ-जहाँ भी जैनधर्म का अधिक प्रभाव रहा, वहाँ के अन्य धर्मावलम्बी भी प्राण्यंग मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का इस्तेमाल (उपयोग) करने से दूर रहते आ रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं परन्तु आज से हजार बारह सौ वर्ष पहले जब बौद्ध लोग गुजरात प्रदेश मे आये तब जैनधर्म के आचार तथा विचार के प्रभाव से प्रभावित हो कर उन्हे भी मत्स्य-मांसादि के प्राण्यंग मांसपरक अर्थों को बनस्पतिपरक

अय करने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध भिक्षुओं को प्राण्यग मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के लिये निषेध करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट है कि भूतकाल से लेकर आज तक जैनों में मांसाहार का कोई प्रचार अथवा प्रभाव को अवकाश नहीं रहा। ये सब बातें भगवान महावीर तथा निर्ग्रंथ श्रमणों के कट्टर निरामिषाहारी होने का स्पष्ट प्रमाण है।

(१२) यही कारण है कि मांसाहारी प्रदेशों तथा मांसाहारी देशों में रहने वाले जैन धर्मावलम्बी गृहस्थ भी सदा की भांति आज तक कट्टर निरामिषाहारी हैं। मात्र इतना ही नहीं जैन धर्म को छोड़े अर्से से भूल चुकने वाली 'सराक' आदि जातियों का आज भी कट्टर निरामिषाहारी होना उन पर जैनधर्म के आचार तथा विचार की गहरी छाप का ज्वलंत उदाहरण है।

(१३) भारतवर्ष में जैनधर्म को मानने वाली ओसवाल, खंडेलवाल, पोरवाल, श्रीमाल, पल्लीवाल आदि प्रमुख जैन जातियों का निर्माण राजपूतादि मांसाहारी जातियों में से हुआ। जब से इन महानुभावों ने जैनधर्म को स्वीकार किया और ये निर्ग्रंथ (जैन) श्रमणोपासक (श्रावक) बने तब से आज पर्यंत कट्टर निरामिषाहारी हैं। यदि जैन आचार-विचार में मांसाहार की थोड़ी सी भी छूट होती, फिर वह चाहे उत्सर्ग से होती अथवा अपवाद से, तो ये उपर्युक्त श्रमणोपासक जैन जातियां कदापि आज कट्टर निरामिषभोजी न होतीं। इस के विपरीत बौद्धों के समान ये भी सब मांसाहारी होते। हम देख चुके हैं कि बुद्धधर्म को स्वीकार करने वाले निरामिषभोजी तापस भी मांसाहारी बन गए तथा जैनधर्म का स्वीकार करने वाले मांसाहारी लोग भी कट्टर निरामिषाहारी बन गये। इस से भी स्पष्ट सिद्ध है कि निर्ग्रंथ-परम्परा में मांसाहार का कभी भी चलन नहीं था और न है।

(१४) जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तथा शाक्यमुनि तथागत गौतम बुद्ध समकालीन थे और आगमकारों के सब ही निर्ग्रंथ

पथ के दो पथिक थे। महात्मा बुद्ध इस पथ से भटक गए और भगवान् महावीर इस पथ को पार कर सफल हुए। भगवान् महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध पवित्र करके कर्ममल से सर्वथा रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर सदा के लिए अमर हो गये तथा महात्मा बुद्ध अपनी चित्त शक्ति को सर्वथा बुझा कर सदा के लिये विलुप्त हो गये। इन दोनो के अपने-अपने आचार विचारो के अनुकूल ही निर्ग्रंथ (जैन) परम्परा कट्टर निरामिषाहारी है और बौद्ध-परम्परा मांस-मछली आदि सर्वभक्षी है।

(१५) निर्ग्रंथ परम्परा सदा से प्राण्यंग मांस, मछली, अण्डे, मदिरा आदि अभक्ष्यभक्षण का विरोध करती आई है, यही कारण है कि जैन धर्म अन्य मांसाहारी परम्पराओ के समान मांसाहारी देशो मे न फैल सका। भारतवर्ष मे ही इसका प्रादुर्भाव हो कर भारत मे सीमित रहा।

(१६) अतः (क) भाषाशास्त्र के इतिहास के अभ्यासी से यह बात कदापि छिपी नही रह सकती कि आचारांग आदि प्राचीन जैन आगमों के रचनाकाल के समय मांस-आमिष आदि शब्दो का अर्थ वनस्पतिपरक तथा पक्वान्नों आदि उत्तम खाद्य पदार्थों का किया जाता था। इसलिये इन आगमों मे आये हुए मांसादि शब्दों का अर्थ प्राण्यग तृतीय धातु मांस का समझना सर्वथा अनुचित है। (ख) जैन आचार-विचारो के अनुसार भी इन शब्दो का प्राण्यंग मांसपरक अर्थ सर्वथा प्रतिकूल है। (ग) जैन परम्परा के आचार संबंधी इतिहास से भी यही बात सिद्ध होती है कि भगवान् महावीर स्वामी से पहले के जैन श्रावक जो कि इनके पूर्वकालवर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि के अनुयायी थे वे भी मांसाहारी नही थे। उन पार्श्वापत्य श्रावको का अवशेष रूप "सराक" जाति का आज भी बंगाल जैसे मांसाहारी देश मे सद्भाव और उन का कट्टर निरामिषाहारी होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तथा भगवान् महावीर के बाद निर्मित होने वाली ओसवाल, पोरवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल श्रीमाल आदि जैन जातियों का कट्टर निरामिषभोजी होना भी हमारी इस धारणा को पुष्ट करता है। जिस प्रकार जैन श्रावक निरा-

मिषाहारी हैं उसी प्रकार निर्ग्रंथ श्रमण (जैनमुनि) भी सर्वथा एव सर्वदा निरामिषभोजी थे और हैं।

ऐसा होते हुए भी अध्यापक कोसाम्बी का यह लिखना "कि उन्हो ने (जैनो ने) मासाहार का समर्थन इसी (बौद्धो) के ढग से किया होगा क्योकि पूर्वकालीन तपस्वियो के समान जगत के फूल-फलो पर निर्वाह न करके लोगो की दी हुई भिक्षा पर निभर रहते थे और उस समय निर्मांस-मत्स्य भिक्षा मिलना असभव था। ब्राह्मण लोग यज्ञ मे हजारो प्राणियो का वध करके उनका मास आस पास के लोगो मे बाट देते थे। गाव के लोग देवताओ को प्राणियो की बलि चढा कर उनका मास खाते थे। इस के अतिरिक्त कसाई लोग ठीक चौराहे पर गाय को मार कर उसका मास बेचते रहते थे। ऐसी स्थिति मे पक्वान्न की भिक्षा पर निर्भर रहने वाले श्रमणो को मास रहित भिक्षा मिलना कैसे सभव हो सकता था।"

उन की यह धारणा सत्यता मे कोसो दूर है। क्योकि श्रमण भगवान् महावीर निर्ग्रंथ परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर थे उन से पहले तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ तथा बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्ट नेमि (नेमिनाथ) इत्यादि तेईस तीर्थंकर हो चुके थे जिन्होंने सवत्र अहिंसा का प्रचार कर जैन आचार-विचारो के पालन करने वाले समाज की स्थापना की थी, जो चतुर्विध सघ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओ का समावेश होता है। ये जैन श्रावक-श्राविकायें श्रमण भगवान् महावीर के समय मे इनके दीक्षा लेने तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्म प्रचार प्रारम्भ करने से पहले से विद्यमान थे सराव आदि जातिवत् कट्टर निरामिषभोजी थे। इन के अतिरिक्त अन्य निरामिषभोजी सन्यासी श्रमणो के उपासक गृहस्थ भी निरामिषाहारी अवश्य विद्यमान होगे। भगवान् महावीर के माता-पिता, तथा मामा महाराजा चेटक का परिवार तथा अन्य सगे सम्बन्धी भी निर्ग्रंथ श्रमणो के उपासक थे, अर्थात् जैन धर्मानुयायी थे।

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मप्रचार से भी लाखों की संख्या में गृहस्थों ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और वे बारह व्रतधारी श्रमणोपासक बन चुके थे। जिस से उस समय ये निरामिषभोजी भी सर्वत्र विद्यमान थे।

ऐसी अवस्था मे भिक्षा पर निर्भर रहने वाले जैन निर्ग्रंथ श्रमणों को मांस रहित भिक्षा मिलना असंभव मानना कहाँ तक उचित है ? पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

व्यक्ति दो कारणों से झूठ बोलता है। अज्ञानवश अथवा राग-द्वेषवश। सो कोसाम्बी जी की उपयुक्त धारणा सत्य से कोसों दूर होने के कारण इन दो कारणो मे से किसी एक कारण का शिकार अवश्य हुई है। अधिक क्या लिखे।

(१७) मनुष्य का उसके विचारों के साथ गहरा सम्बन्ध है। विचारो के अनुसार ही आचार होता है। जो यह मानता है कि आत्मा नही है, परलोक नही है, परमात्मा नही है उसका आचार प्रायः भोग-प्रधान रहता है। जो यह मानता है कि आत्मा है, परलोक है, आत्मा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख आदि फल को भोगता है, उसका आचार भोगप्रधान न होकर इसके विपरीत त्यागमय होता है। अतः विचारों का मनुष्य के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी के आचार-विचार को जाने बिना उस के विषय में सम्यक् निर्णय नही किया जा सकता। महात्मा बुद्ध मृतमाँस में जीव नही मानते थे; किन्तु निग्गठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) सब प्रकार के प्राण्यंग मांस को त्रस जीवों का पुंज मानते थे। इसलिये जब हम श्रमण भगवान् महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करते है तो ज्ञात होता है कि वे दीक्षा लेने से पहले गृहस्थाश्रम में ही सचित्त आहार के सब प्रकार से त्यागी हो चुके थे और निर्ग्रंथ श्रमण की दीक्षा लेने के बाद जब वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो चुके थे तब उन्होने मोहनीय कर्म को सर्वथा नाश कर लिया था। उस समय उन्हे अपने शरीर पर किंचिन्मात्र भी मोह नहीं

था। वे अपने केवलज्ञान द्वारा यह भी जानते थे कि अभी उनकी आयु सोलह वर्ष और शेष है। वे यह भी अवश्य जानते होंगे कि पित्त ज्वर, रक्तपित्त आदि रोगों के शमन करने के लिये वनस्पति से निष्पन्न निर्दोष और प्रासुक औषधियां भी सुलभ प्राप्य हैं। उनके उस समय लाखों की संख्या में निरामिषाहारी गृहस्थ श्रावक अनुयायी तथा उपासक विद्यमान थे। जब छद्मस्थ निर्ग्रंथ श्रमण भी मांसाहार का सर्वथा त्यागी होता है तब तीर्थंकर भगवान् का आचार तो उन निग्रन्थों से भी बहुत उत्कृष्ट था। ऐसी अवस्था में ऐसा पाप-मूलक मांसाहार वे कैसे ग्रहण कर सकते थे? कहना होगा कि प्रभु महावीर पर मांसाहार का दोषारोपण करना चांद पर थूकने के समान है। फिर भी यदि कोई कहे कि रोग के शमन के लिये भगवान ने "मुर्गे का मांस खाया, क्योंकि विवादास्पद सूत्र पाठ के अर्थ से भी ऐसा प्रतीत होता है" तो यह दलील भी उनकी युक्ति संगत नहीं है।

किसी भी बात का निर्णय करने से पहले इस विषय में लागू पड़ने वाले संयोग तथा आस पास के संयोगों का विचार करके सत्य निर्णय करना सुज्ञ विद्वानों का साधु कर्तव्य है। हम इस निबन्ध में अनेक स्थलों पर इस बात के अनेक प्रमाण देते आ रहे हैं कि भगवान् महावीर ने प्राणि हिंसा तथा मांसाहार का उग्र विरोध किया था। ऐसे महान् अहिंसक को अपने सिद्धान्त की कदर न हो यह कैसे माना जा सकता है?

(१८) जैन सिद्धान्त के अनुसार (१) भगवान् महावीर का वज्र-ऋषभनाराच संहनन था। (२) उन्होंने छद्मस्थावस्था में घोरातिघोर उपसर्ग तथा परीषह सह कर भी अपने निर्ग्रंथ श्रमण के आचारों का दृढ़ता पूर्वक पालन किया था। (३) उन्होंने मांसाहार को नरकगति में ले जाने वाला बतलाया है। (४) मांसाहारी को कसाई (घातक-हिंसक) कहा है जो कि सर्वथा सार्थक है। कसाई शब्द कषायी का प्राकृत पर्यायवाची होता है। इसका आशय यह हुआ कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तानुसार मांसाहार उत्कृष्ट कषायवान व्यक्ति ही कर सकता है।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तो कषाय अज्ञानादि अठारह दोषों रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, इसलिये कदाचित इनके रोग में मांसाहार गुणकारी भी होता तो भी अहिंसा के आदर्श उपदेशक तथा करुणा के अवतार श्रमण भगवान् महावीर कभी भी ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को स्वीकार करे यह बुद्धिगम्य तथा श्रद्धागम्य नही है। (५) उन्हे तो अपनी देह पर भी ममता नही थी। (६) उन्हे यह भी ज्ञान था कि इस रोग मे मुर्गे का मास घातक है। (७) उन्हे उनके रोग शमन के लिये वनस्पतिनिष्पन्न निर्दोष तथा प्रासुक अनुकूल औषधि सुलभ प्राप्य भी थी। ऐसी परिस्थिति में श्रमण भगवान् महावीर का मांसाहार ग्रहण करना कदापि संभव नही है।

निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाने वाली, प्राणों की घातक, रोग की प्रकृति के प्रतिकूल तथा अभक्ष्य, महापापमूलक वस्तु अपने शिष्य सिह मुनि द्वारा मंगा कर ग्रहण करे, यह वात समझदार व्यक्ति के गले कदापि नही उतर सकती।

(१९) रेवती श्राविका जो धनाढ्य गृहस्थ की स्त्री थी, वहुत ही समझदार और बुद्धिमती थी और बारह व्रत धारिणी भी थी। ऐसी उत्कृष्ट श्राविका ऐसा उच्छिष्ट मांस कैसे राध सकती थी? रांध कर वासी क्यो रखे? फिर भगवान् के लिये दे। ये सव वाते कैसे संभव हो सकती है?

जो स्वयं राँधे वह खाती भी होगी तव वह व्रतधारिणी कैसे हुई? मांस खाने वाली रेवती ऐसे वासी मांस का आहार दान करने से देव-गति प्राप्त करे तथा तीर्थकरनामकर्म उपार्जन करे, यह कैसे संभव हो सकता है? शास्त्रकार तो "तृतीयाँग ठाणांग आगम" में कहते है कि इस सुपात्रदान के प्रभाव से रेवती श्राविका देवगति में गयी और आगामी चौवीसी में मनुष्यजन्म पाकर इस की आत्मा तीर्थकर हो कर निर्वाण (मोक्ष) पद को प्राप्त करेगी। अतः इससे यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक वारह व्रत धारिणी श्राविका न तो कदापि प्राण्यग मांस पका सकती

थी और न ही दान मे दे सकती थी। क्योंकि यह बात उसके मान्य आचार और सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध थी।

(२०) भगवान् महावीर के रोग का विचार करते हुए तथा उनके आचार-विचारो को लक्ष्य मे रखते हुए, एवं निर्ग्रंथ श्रमण सिंह मुनि की चर्या का अवलोकन करते हुए श्राविका रेवती के पवित्र आचार को समझते हुए यह बात फलित होती है कि यह औषध प्राण्यग मास से निष्पन्न नही थी। मुर्गे का मांस रक्त पित्त जैसे दाहक रोग मे हानिकर है ऐसी वैद्यक शास्त्र की मान्यता होने मे यह बात सर्वथा सत्य है कि जो औषध श्रमण भगवान् महावीर ने अपने रोग शमनार्थ ग्रहण की थी वह वनस्पतिनिष्पन्न, एषणीय, प्रासुक एव निर्ग्रंथआचार तथा रोग-शमनार्थ सर्वथा अनुकूल थी।

(२१) कोई कोई आजकल यह कहते भी पाये जाते हैं कि वनस्पतियां पक्वान्न तथा खाद्य पदार्थों के लिये मास मत्स्यादि जो शब्द वनस्पतियों और प्राणियों अथवा वनस्पत्यगों और प्राण्यगो दोनो के लिये प्रयुक्त होते हैं ऐसे शब्दो का प्रयोग प्राचीन जैन आगमो मे वनस्पति और पक्वान्नो के लिये क्यों किया गया ? जब कि शब्दकोश में ऐसे शब्द भी मौजूद हैं जिनका प्रयोग मात्र वनस्पतियो के लिये ही होता है। ऐसा होने से तो मांस मत्स्यादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का सन्देह हो जाने के कारण अर्थ का अनर्थ हो रहा है। अत आगम रचने वालो को चाहिये था कि वे ऐसे द्वयार्थक शब्दो का प्रयोग सूत्रपाठों मे न करते, और यदि हो भी गया है तो ऐसे सूत्रपाठो को प्राचीन जैनागमो मे से निकाल देना चाहिये।

आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीरस्वामी) के उपदेशो का सग्रह उनके गणधरो ने किया उस समय इन विवादास्पद शब्दो का अर्थ वनस्पतिपरक तथा पक्वान्न आदि उत्तम खाद्य पदार्थों के लिये प्रयोग किया जाता था, इस बात का उल्लेख हम पहले कर आये हैं। भाषाशास्त्रियो से यह बात भूली हुई नहीं है कि देश तथा कालादि के भेद से शब्दो के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। तथापि

शब्द अनेकार्थक बन जाते हैं तथा अनेकार्थक एकार्थक बन जाते हैं। अनेक शब्दों तथा लिपियो मे एक दम परिवर्तन भी हो जाता है। जो शब्द आज किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है वह शब्द कालांतर में सर्वथा भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होने लगता है। सो आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले मगधदेश मे बोली जाने वाली भाषा आज की भाषा से मेल कैसे पा सकती है। अतः सुज्ञ एव निष्पक्ष विद्वानो को चाहिये कि वे किसी भी सूत्र पाठ का अर्थ करते समय देश, काल, परिस्थिति, आचार, विचार आदि को लक्ष्य मे रखते हुए उन के अनुकूल अर्थ करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दे। यही उन के लिये शोभाप्रद है। किन्तु प्राचीन काल के एकार्थक शब्दों को अनेकार्थक बना कर अर्थ का अनर्थ करने की कृपा न करें।

(२२) वर्तमान समय में विवादास्पद सूत्रपाठों को निकालने का विचार भी ठीक प्रतीत नही होता। कारण यह है कि उस प्राचीन समय के सूत्रपाठों को निकाल देने अथवा उन शब्दों को बदल देने से जैनागमों की प्राचीनता एव प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायगी। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की मौजूदगी मे गणधरों द्वारा संकलित किये गये ये प्राचीन आगम जब उन के ९८० वर्ष बाद देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में लिपिबद्ध कर पुस्तकारूढ किये गये थे उस समय इस हज़ार वर्ष के अन्तर में भाषा, शब्दो, अर्थों के अनेकविध परिवर्तन भी अवश्य हो चुके थे, उस समय लोग प्राचीन अर्थो को भूलने भी लगे थे, बाहर से आने वाली अनेक जातियों के भारत मे आकर बसने तथा उन के शासनकाल में उनकी भाषा राज्यभाषा के रूप में प्रचार पा जाने से प्रत्येक भाषा मे शब्दों का आदान-प्रदान होने से उस समय की भाषाओं मे अनेक प्रकार के परिवर्तन भी हो चुके थे। आज की हिन्दी, गुजराती, बंगाली आदि भारतीय भाषाओं का जब हम बारहवी-तेरहवी शताब्दी की भाषाओं से मेलान करते हैं तो इनके अन्तर का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले "आम, आमगंध शब्द का अर्थ प्राण्यंग का कच्चा-

पक्का मास किया जाता था परन्तु आज की बोल चाल की भाषाओं मे "आम" एक फल का नाम प्रसिद्ध है। यह तो हुई भूतकाल की बातें। वर्तमान काल मे भी हम देखते हैं कि जिस एक शब्द का विशेष अर्थ पंजाब मे एक प्रकार का किया जाता है उसी शब्द का अर्थ उत्तर प्रदेश मे दूसरी प्रकार का किया जाता है। उदाहरणार्थ "कुक्कुडी" शब्द का अर्थ पंजाब मे "मुर्गी" समझा जाता है और उत्तर प्रदेश के मेरठ आदि जिलो मे "मकई के भुट्टे" के अर्थ मे इसका प्रयोग होता है तथा मारवाड मे इसका प्रयोग रूई के काते हु सूत की गुच्छी के लिये होता है। इन सब बातो का विचार करने मे यह स्पष्ट है कि वलभी मे प्राचीन जैन आगमों को पुस्तकारूढ करते समय भी भाषादि के बदलने की समस्या उन गीतार्थ निर्ग्रंथो के सन्मुख अवश्य थी। यदि वे चाहते तो इन सूत्र-पाठों को निकाल अथवा बदल भी देते, फिर भी उन्होंने ऐसा क्यो नही किया? इस के पीछे उनकी बडी दीर्घ दृष्टि थी। यदि वे इन सूत्रपाठो को निकाल अथवा बदल देते तो (१) इन आगमो की प्राचीनता नष्ट हो जाती (२) भगवान् महावीर के गणधरो की मूल भाषा का अभाव हो जाता। (३) प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा का इतिहास लुप्त हो जाता इत्यादि अनेक दोष आजाने पर भी यह समस्या हल न हो पाती, क्योकि यदि उस समय भगवान् महावीर के एक हजार वर्ष के बाद भाषा तथा शब्दो के अर्थो मे कुछ परिवर्तन हो चुका था तो स आगमो के पुस्तकारूढ होने के पन्द्रह सौ वर्ष बाद आज तक भाषाओं और उनके शब्दों के अर्थो मे कोई कम परिवर्तन नहीं हुए। ऐसी परिस्थिति मे फिर भी वैसी ही समस्या खडी रहती और अनेक सूत्र पाठो को आज भी बदलने की आवश्यकता पडती और भविष्य मे फिर अनेक शब्दो के अर्थ बदलने रहने के कारण यह समस्या वैसी की वैसी ही बनी रहती बार-बार सूत्र पाठों के बदलने से प्राचीन जैनागमो का अस्तित्व ही न रह पाता। इसलिये यही उचित है कि वर्तमान मे विद्वानो के सामने जो विवादास्पद सूत्रपाठ हैं उनका अर्थ निर्ग्रंथ (जैन) आचार विचारो तथा प्राचीन भाषा के अर्थो के अनुकूल

अर्थ करके मुज्ञ विद्वान अपने कर्तव्य का पालन करें। सारांश यह है कि सूत्र-पाठों का विपरीतार्थ करने मे बहुत बातें विपरीत हो जाती है। किसी बात का समाधान होना तो दूर रह जाता है, परन्तु कई प्रकार को उलझनें उपस्थित हो जाती हैं। भगवतीसूत्र के इस विवादास्पद सूत्रपाठ का विपरीतार्थ करके अध्यापक कोसाम्बी जी, पटेल गोपालदास तथा उन के अनुयायी विद्वानो ने अपनी विद्वत्ता को बट्टा लगाया है। क्योंकि भगवान् महावीर के रोग मे ली जाने वाली औषध का मांसपरक अर्थ चिकित्सा शास्त्र, निर्ग्रंथ आचार-विचार, श्रमण भगवान् महावीर की जीवनचर्या, समय, परिस्थिति आदि सब के प्रतिकूल है। अधिक क्या लिखे ?।

इस विवेचना से विद्वान पाठकगण समझ सकेगे कि इस सूत्रपाठ का वर्त्तमान कालीन अर्थ करके गोपालदास पटेल तथा अध्यापक धर्मानन्द कोसाम्बी ने कैसी अक्षन्तव्य भूल की है ?।

अतः भारत सरकार की "साहित्य एकादमी" को चाहिये कि वह कोसाम्बीकृत "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक को सदैव के लिये अशान्ति-जनक घोपित कर जप्त करे। इसी मे भारतसरकार की प्रतिष्ठा निहित है। सुज्ञेषु किं बहुना।